जैन कथामाला : लोकमत

श्री मधुकर मुनिजी द्वारा लिखित और श्री 'सरस' जी द्वारा सम्पादित जैन कथामाला के कुछ भाग आचार्य सम्राट ने देखे। प्रथम तीन भाग में महान सतियों का जीवन और तीन अग्रिम भाग में २४ तीर्थंकरों का जीवन चरित्र बड़ी ही रोचक और प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखा गया है। इनकी विशेषता यह है कि इनमें इतिहास की प्रामाणिकता के साथ साथ कथाओं की रोचकता भी कमाल की है।

—आचार्य श्री आनन्दऋषि

जैन कथामाला के छः भाग देखकर प्रसन्नता हुई। सरसरी तौर पर पढ़े, भाषा प्रांजल और कथात्मकता आकर्षक है। अक्षय-जैन कथा-सागर में से इसी प्रकार मणियां चुनी जाय तो एक बहुमूल्य हार तैयार हो ही जायेगा।

—उपाध्याय अमरमुनि

ज्ञान क्रिया का संगम जिसमें, भरा हुआ तप, त्याग।
"जैनकथामाला" के अद्‌भुत, देखे हैं कुछ भाग।
भव्य भाव हैं जैसे ऊँचे, ऊँची वैसी भाषा।
इसको कहें सुयोग न क्योंकर, कौस्तुभ-कांचन का सा।
लेखक हैं श्री "मधुकर" मुनिवर, श्रमण संघ हितकारी।
संपादक "श्रीचन्द" सुराना, कलम-कलाधर भारी।
कथा-कहानी की न पुस्तक, ऐसी अन्य लखाई।
"चन्दन-मुनि" पंजाबी देता, द्वय को मधुर बधाई।

—चन्दन मुनि (पंजाबी)

जैन कथा साहित्य के प्रति बचपन से ही मुझे रुचि है। आप द्वारा प्रेषित ६ पुस्तकें पढ़कर तो मन परिप्रीणित हो गया। कथाओं में सजीवता और प्रेरणा है। कुछ चरित्र तो ऐसे हैं जिन पर अच्छे खण्ड काव्य लिखे जा सकते है। मेरी हार्दिक बधाई !

—रामधारीसिंह 'दिनकर'
(स्व० राष्ट्रकवि)

जैन कथामाला के पृष्ठ पलटते-पलटते सात्विक रसोद्रेक हुआ, महान चरित्र हमेशा ही महान प्रेरणायें देते हैं। बालक, युवक, वृद्ध महिलायें इन पुस्तकों को पढ़कर मनोरंजन के साथ-साथ मनोमन्थन भी करेंगे।

—डा० रामकुमार वर्मा
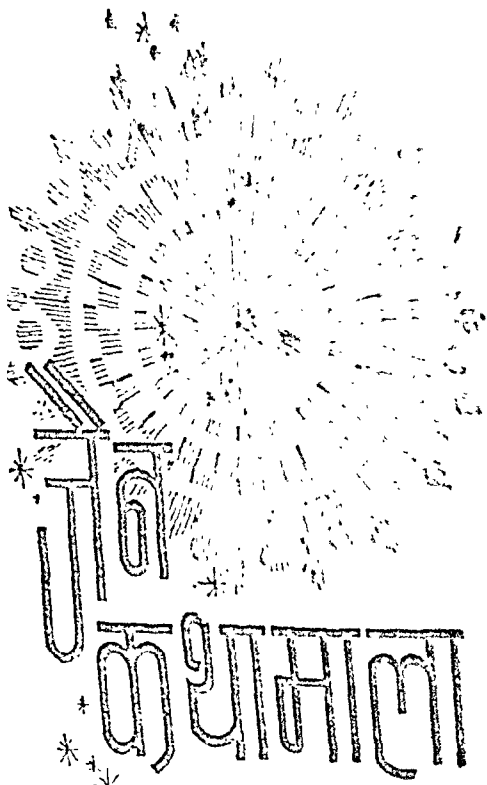
जैन कथामाला

लेखक-मधुकर मुनि

सम्पादक-श्रीचन्द सुराना 'सरस'

जैन कथामाला

[भाग ३४]

लेखक
उपाध्याय श्री मधुकर मुनि

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक—
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
ब्यावर [राजस्थान]

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन महासंघ (पंजी.), दिल्ली
जय भारत प्रिंटिंग प्रेस, वैस्ट रोहतास नगर,
आर–1 ए.यू. ब्लाक, उत्तरी पीतमपुरा,

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन : पुष्प ४६

○ जैन कथामाला : भाग ३४

○ लेखक—उपाध्याय श्री मधुकर मुनि

○ सम्पादक—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

○ संप्रेरक—श्री विनय मुनि 'भीम'
श्री महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

○ प्रथमावृत्ति—वि० सं० २०३६ वैशाख
ई० सन् १६७६ अप्रैल

○ श्रीचन्द सुराना के लिए
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस आगरा में मुद्रित

प्रकाशकीय

आज से लगभग ७ वर्ष पूर्व उपाध्याय श्री मधुकर मुनि जी म० सा० के अन्तःकरण में एक भावना जागी थी कि आज की युवा पीढ़ी और होनहार किशोरपीढ़ी को इसप्रकार का रोचक और शिक्षाप्रद साहित्य दिया जाय कि वह उसके स्वाध्याय से अपना मनो-रंजन करने के साथ-साथ योग्य शिक्षा व जीवन-निर्माण की प्रेरणा प्राप्त कर सके। इस कल्पना में मुनि श्री का ध्यान जैन कथा साहित्य के अक्षय भंडार पर केन्द्रित हुआ।

जैनकथा साहित्य का दोहन कर कथामाला का सम्पादन-प्रकाशन प्रारम्भ किया गया और हमें अत्यधिक प्रसन्नता है कि मुनि श्री की भावना सफल हुई। अव तक जैन कथामाला के ३३ भाग प्रकाशित हुये जिसमें लगभग ३५०-४०० से अधिक रोचक कहानियों का प्रकाशन हो चुका है और आगे भी प्रकाशन चालू है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे ये प्रकाशन पाठकों को रुचिकर लगेंगे और आज मँहगाई के समय में भी सस्ते मूल्य में उपलब्ध हो सकेंगे।

अमरचन्द मोदी

मन्त्री—

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

❀ स्वत: ❀

जैन साहित्य के विविध आयामों में कथा विधा बहुत ही रोचक और समृद्ध है। कथा के माध्यम से गंभीर से गंभीर विषय को बड़ी सरलता तथा सुगमता से हृदयंगम कराया जा सकता है। कथा-कहानी प्राचीन काल से ही लोकप्रिय रही हैं और आज भी है।

कथा साहित्य में जैनकथा साहित्य अत्यन्त व्यापक है। जैन कथाओं में मनोरजन के साथ ही इतिहास, तत्त्वज्ञान, बौद्धिकचातुर्य और व्यवहार-कुशलता की नीतिपूर्ण बातें बड़े सुन्दर ढंग से पिरोई हुई मिलेगी। मुझे प्रारम्भ से ही कथा लेखन में रुचि रही है। जैन कथामाला के विराट प्रकाशन में भी यही रुचि मूल प्रेरणा बन रही है।

जैन कथामाला के पूर्व भागों में तिरेसठ शलाकापुरुषों का जीवन-चरित्र विशेष रूप से लिखा गया है। साथ ही महासतियाँ, प्रभावशाली आचार्य, राजन्य, प्रमुख श्रावकगण आदि के जीवन वृत्त भी लिखे गये। इस लेखन में सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्द्र जी सुराना का आत्मीय सहयोग सदा मिला है, और मिलता रहेगा, यह आशा करता हूँ।

मेरे जीवन में पूज्य स्वामीजी श्री बृजलाल जी महाराज एक अक्षय प्रेरणा स्रोत रहे हैं। जैन कथाओं के लेखन में उनका मार्गदर्शन एवं प्रेरणा सदा मिलती रही है। श्री विनय मुनि एवं श्री महेन्द्र मुनि की सेवा-सुश्रूषा ने मुझे साहित्य सेवा में अधिक गतिशील रखा है। सभी के स्नेह-स्मरण के साथ कथामाला के ये भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हैं—

—मधुकर मुनि

सम्पादकीय

जैन कथामाला के ३३ भागों के प्रकाशन की पहली कड़ी सम्पन्न हो चुकी है और अब आगे की शृंखला चालू हो रही है।

इस कथामाला को साधारण पाठक से लेकर विद्वानों तक ने पसंद किया है, यह प्रसन्नता का विषय है।

अब तक के भागों में तिरेसठ शलाका पुरुषों के जीवन की रोचक कथाएँ प्रकाशित हो चुकी है। साथ ही अनेक महासतियां (२० सतियां) तथा अनेक प्रभावक आचार्यो एवं श्रावकों तथा महाराज श्रेणिक, अभयकुमार आदि प्रमुख धर्मानुरागी प्रभावशाली राजाओं की कहानियाँ पिछले भागों में छप चुकी है। भाग २६ से ३३ तक में तो जैन रामायण तथा जैन श्री कृष्ण कथा का प्रकाशन भी शृंखलाबद्ध हो गया है। इसी के साथ जैन पांडव चरित तथा अन्य पौराणिक चरित्रों के प्रकाशन की माँग भी आई और उस दिशा में उपाध्याय श्री मधुकर मुनि जी स्वयं प्रयत्नशील भी है।

कुछ समय से पाठकों की माँग थी कि पौराणिक कहानियों के साथ-साथ कुछ आगमिक कहानियाँ भी आये तो इससे रस परिवर्तन भी होगा और क्रम में नवीनता भी आयेगी। उपाध्याय श्री मधुकर मुनि जी म० को भी यह सुझाव पसंद आया और जैन आगम, निर्युक्ति-टीका आदि में आई हुई शिक्षा प्रद लघु कहानियों का संकलन-लेखन प्रारम्भ हुआ।

प्रस्तुत ३४ से ३६ भाग तक में ज्ञातासूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, उत्तराध्ययन टीका, राज प्रश्नीय, अन्तगड़ आदि आगमों में तथा नंदीसूत्र की वृत्ति में बुद्धि के भेद-प्रभेदों में वर्णित कहानियां लिखी गई हैं। उपासगदशांग की कहानियाँ

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन महासंघ (पंजी.), दिल्ली प्रदेश के
जय भारत प्रिंटिंग प्रेस, वैस्ट रोहतास नगर, शाहदरा
आर–1 ए.यू. ब्लाक, उत्तरी पीतमपुरा, ५

भाग १० में प्रकाशित हो चुकी है। इस प्रकार आगम साहित्य में वर्णित कहानियों का एक संग्रह पाठकों के हाथों में इन भागों के साथ पहुंच रहा है।

ज्ञातासूत्र की कथाएँ प्रतीकात्मक अधिक है। उन लघु कथानक, रूपक व दृष्टांतों में जीवन का, धर्म का, तत्त्व ज्ञान का शाश्वत-बोध बड़े ही सरल और सरस ढंग से प्रस्तुत किया गया है। ये कहानियाँ कहानी शैली की दृष्टि से भी अनूठी है और यही कारण है कि इनके सूत्र भारतीय कथा साहित्य में व्यापक रूप से उपलब्ध होते है।

उत्तराध्ययन सूत्र की कथाएँ चरित्र-प्रधान है। कुछ कथाएँ रूपकात्मक भी है, पर अधिकांश चरित्रात्मक ही है। नंदीसूत्र की वृत्ति में बुद्धि के चार भेदों पर रोहक, अभयकुमार, कल्पक, चाणक्य आदि की अनेक लोककथाएँ दी गई है। वे सभी कथाएँ ३६वें भाग में ले ली गई है। साथ ही बौद्धिक विलक्षणता प्रदर्शित करने वाली कुछ अन्य प्रसिद्ध कथाएँ भी इस भाग में है।

आशा है पौराणिक कथा पढ़नेवाले पाठकों को ये भाग कथा-शैली के मध्यान्तर (इन्टरवेल) की भांति रुचिकर लगेगें।

शासनसेवी पूज्य स्वामी श्री वृजलाल जी म० उपाध्याय श्री मधुकर मुनि जी म० के मार्ग-दर्शन में इनका सम्पादन भी सम्पन्न हुआ। उनके प्रति कृतज्ञता के भाव के साथ-साथ सुज्ञ पाठकों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने रुचिपूर्वक हमारा कथा-साहित्य पढ़ा है।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशन सहयोगी

श्रीमान महावीरचन्द जी लोढा, नागौर [राज०]

नागौर निवासी श्रीमान महावीरचन्द जी सा० लोढा बहुत ही सरल, भद्रप्रकृति के धार्मिक संस्कारों वाले सुश्रावक हैं। आप मुनिश्री के अनन्य भक्त हैं। प्रायः प्रतिमास या हर डेढ़ महीने बाद कहीं न कहीं मुनि श्री के दर्शनों का लाभ लेते रहते हैं। सेवा कार्यों में आपकी विशेष अभिरुचि है।

आपके पिता श्रीमान प्रसन्नचन्द्र जी लोढ़ा हैं। आपकी माता श्री मदन कंवर बाई हैं। आपके दो बड़े भाई हैं—श्री मनमोहनचंद जी एवं श्री अमर चंद जी। तथा आपके दो बहनें भी हैं।

श्रीमान महावीरचन्द जी की धर्मपत्नी सौ० सुशीलाबाई भी संत-सतियों की सेवा में विशेष अभिरुचि रखने वाली धर्मशीला सुश्राविका हैं। आपके तीन सुपुत्र हैं—चि० नरेन्द्रकुमार, महेन्द्रकुमार एवं जितेन्द्रकुमार। आपकी सुपुत्री है—कुमारी ऊषा।

आपका पूरा परिवार धार्मिक संस्कारों से युक्त गुरुदेवश्री का परम भक्त है।

जैनकथामाला के ३४वें भाग के प्रकाशन में आपने १००१) का उदार अर्थसहयोग प्रदान किया है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी आपका सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

—मंत्री

अनुक्रमणिका

१ | देह और देही

मगध की राजधानी राजगृह का वैभव देवपुरी के समान था। ऊँचे-ऊँचे भवन, लम्बे-चौड़े राजमार्ग, साफ-सुथरी वीथियाँ, निर्मल नीर से भरे विशाल सरोवर, नयनाभिराम क्रीड़ास्थल और नगर के चारों ओर फैली द्रुमश्री एवं हरित सम्पदा। इसके साथ ही राजगृह पुण्यशाली नगर भी था। क्योंकि जिस राजगृह में भगवान महावीर ने एक-दो नहीं, चौदह चातुर्मास बिताये हों, उसके पुण्य का क्या ठिकाना ?

इसी राजगृह में धन्ना नाम का एक श्रेष्ठी रहता था। धन्ना की पत्नी थी भद्रा। दोनों ही धर्मनिष्ठ, सम्यक्त्वी व श्रमणोपासक थे; किन्तु सन्तान के न होने से दोनों दुखी थे। कैसा विचित्र संसार है यह। कहीं घी घना तो कहीं मुट्ठी भर चना। इसमें संसार का दोष भी क्या है? जो जैसा करके आता है, वैसा यहाँ आकर पाता है। इसीलिए तो ऐसी विषमता है कि किसी के घर बच्चों की भीड़ है तो खाने को रोटी नहीं और धन्ना श्रेष्ठी के यहाँ रत्नों का ढेर लगा है तो कोई बालक नहीं। यों धन से भी सुख-साधन जुटाये जाते हैं, धन सांसारिक सुखों का आधार भी है, पर श्रेष्ठी धन्ना और सेठानी भद्रा तो इस धन से ऊबने लगे थे। सेठानी अपने पति से कहती—

"हम चाहे गरीब होते, रूखी-सूखी रोटियाँ मिलतीं, पर अँधेरे घर में उजाला करने वाला एक दीपक अवश्य होता।"

सेठ समझा देता—

"सन्तान प्राप्ति के सभी उपाय तो हमने कर लिये। अब और

भी क्या ? परवश—भाग्यवश सब सहना पड़ता है। हम भी सहेंगे और सह रहे हैं।"

इसी तरह दोनों एक-दूसरे से बातें करके दुःख का बोझ कुछ हल्का कर लेते। एक बार सेठानी ने कहा—

"स्वामी ! यदि आप आज्ञा दें तो मैं एक प्रयत्न करके देखना चाहती हूँ। नगर के बाहर नागभूत यक्ष का आयतन है। मैंने सुना है कि उस यक्ष की आराधना से मनोकामनायें पूरी हो जाती हैं। क्या पता, यक्षाराधना के बहाने ही हमारा भाग्य करवट बदल ले।"

धन्ना श्रेष्ठी ने कहा—

"हाँ-हाँ, उपाय करने में क्या हानि है ? कहते तो सभी यही हैं कि जब भाग्य अनुकूल होता है तो देवी-देवता भी अनुकूल हो जाते हैं। कौन जाने जीवन के उत्तरार्द्ध में ही सन्तान का योग हो और वह इसी बहाने सफल होना हो।"

पति की अनुमति प्राप्त कर सेठानी भद्रा ने नागभूत यक्ष की आराधना की। कई दिन के बाद यक्ष प्रसन्न हुआ और सन्तान का वरदान देकर अपनी प्रतिमा में समा गया। सेठानी घर लौटी। पति को प्रसाद खिलाया। भाग्ययोग से वह गर्भवती हुई और यथासमय एक पुत्र को जन्म दिया। यक्षदेव के वरदान से पुत्र जन्मा था, सो सेठ ने उसका नाम देवदत्त रखा। सेठ-सेठानी की खुशी का ठिकाना नहीं था। जितनी अधिक लम्बी प्रतीक्षा के बाद आशा पूरी हुई थी, उतनी ही अधिक खुशी श्रेष्ठि दम्पती को थी। देवदत्त घर का उजियारा, माता-पिता के नयनों का तारा और सब का खिलौना था। बड़े लाड़-प्यार से उसका पालन होने लगा और शिशु देवदत्त समय की गति के साथ बड़ा होने लगा। होते-होते वह शिशु से बालक हो गया। ऐसा बालक जो घर से बाहर क्रीड़ाभूमि में खेलने चला जाता, अपने संरक्षक पथक के साथ।

घरों में सेंध लगाता और दिन में नगर के बालकों का अपहरण करके जंगल में ले जाता और उनके आभूषण उतार कर मार देता। दया-हया नाम की कोई चीज उसके हृदय में थी ही नहीं। वह इतना निर्दय था कि गाजर-मूली की तरह बच्चों को काट कर फेंक देता।

एक दिन पंथक श्रेष्ठिपुत्र देवदत्त को लेकर क्रीड़ाभूमि गया। बालक बालकों में खेलने लगा। पंथक एक पेड़ की छाँव में बैठ गया। खेलते-खेलते देवदत्त क्रीड़ाभूमि की सीमा-रेखा पर पहुँच गया। चारों ओर झुरमुट था, झाड़ियाँ का। विजय घात लगाये बैठा था। उसने बालक को अकेला देखा, चारों ओर निहारा, आस-पास कोई नहीं दीखा। बालक को गोदी में उठाया और जंगल में ले भागा। रात को विजय चोर ने देवदत्त को मार कर अंधे कुएँ में डाल दिया और उसके आभूषण उतार कर रख लिये।

इधर क्रीड़ा-भूमि खाली होने लगी। अपने-अपने संरक्षकों के साथ बच्चे घरों को जाने लगे। पंथक उठा और चारों ओर देवदत्त को खोजा। पर देवदत्त उसे कहाँ मिलता? अन्ततः निराश होकर अकेला ही घर लौटा। सेठानी ने पूछा—

"पंथक! देव कहाँ है?"

पंथक मौन रहा और टप-टप आँसू गिराता रहा। भद्रा चीख पड़ी और पंथक को झकझोर डाला—

"बता, कहाँ छोड़ा मेरे लाल को?"

पंथक मौन रहा। ऐसा मौन कि उसकी मूकता ने ही सब कुछ बता दिया। सेठ धन्ना ने सुना तो उसकी हवाइयाँ उड़ गईं। पति-पत्नी छाती पीट-पीट कर रोने लगे। जब शोक कुछ शान्त हुआ तो ढूँढ़ने निकला श्रेष्ठी धन्ना। राजा से कहा। नगररक्षक ने खोज कराई, धन्ना ने भी ढूँढ़ा। बच्चा तो नहीं मिला, उसका शव मिल गया, अंधे कुएँ में पड़ा। निश्चय हो गया कि यह काम विजय चोर का ही है। चोर क्या है, हत्यारा है हत्यारा। धन्ना ने अपनी ओर से भी आर-क्षियों को धन दिया और राजा ने भी कड़ा आदेश दिया—

"जैसे भी हो, विजय को पकड़ो।"

चारों ओर से जंगल को घेर लिया गया। कुशल आरक्षियों ने अन्ततः विजय चोर को पकड़ लिया। नगररक्षक उसे राजा के समक्ष ले गया। राजा ने कहा—

"ऐसे हत्यारे को मेरे पास लाने की जरूरत नहीं है। इसे जीवन भर के लिए कारागार में डाल दो।"

ऐसा ही हुआ। कारागार में वन्दी विजय अपने कर्मों का फल भोगने लगा। रूखा-सूखा भोजन मिलता, ताकि वह जीवित रहे। उसका जीवन मरों से भी गया-बीता था। वध, वन्धन और नरक चोरी तथा हत्या के ये परिणाम सुनिश्चित हैं।

विधि की लीला बड़ी विचित्र होती है। कभी-कभी ऐसी बातें हो जाती हैं, जिनके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। हुआ ऐसा कि धन्ना श्रेष्ठी जैसा धर्मनिष्ठ प्राणी भी किसी भीषण अपराध के आरोप में वन्दी बना लिया गया। उसके भी कुछ पूर्व संचित पाप थे, जिनके उदय के कारण उसे कारागार में रहना पड़ा। पुराने समय में दण्ड की कुछ ऐसी विचित्र प्रथा थी कि दो-दो कैदियों को एक ही जंजीर में बाँधकर रखा जाता था। दो विरोधी कैदी एक साथ जकड़ कर रखे जाते थे, ताकि भागने में कोई किसी को मदद न कर सके।

श्रेष्ठी धन्ना और विजय चोर को एक ही कोठरी में तथा एक ही जंजीर में बाँधकर रखा गया था। धनी श्रेष्ठी होने के कारण धन्ना को इतनी सुविधा मिल गई थी कि उसका भोजन उसके घर से ही आता था। सेठानी भद्रा सुस्वादु भोजन बनाती और धन्ना का पुराना नौकर पंथक भोजन लेकर सेठ को खिलाने आता। जब पहले दिन धन्ना का अच्छा भोजन आया तो उसे देखकर विजय की जीभ भी पानी डालने लगी। उसने कहा—

'सेठ! थोड़ा-सा भोजन मुझे भी दे दे। कैदखाने का खाना तो बहुत बुरा है, बिल्कुल पशुओं का-सा है।"

धन्ना ने सुना तो हाथ का ग्रास मुंह में लेकर बोला—

"अरे हत्यारे ! तुझे मैं भोजन दूँगा ? मेरा बस चले तो तेरा गला घोंट दूँ। बड़ी आशाओं के बाद एक पुत्र हुआ था, सो फूल-से पुत्र को तूने मार दिया। पुत्रघाती ! मैं तेरा मुँह भी देखना नहीं चाहता।"

विजय अपना-सा मुँह लेकर रह गया। विजय और धन्ना जुड़े हुए कैदी थे, इसलिए शौच और मूत्रत्याग आदि के लिए एक साथ ही जाना पड़ता। इस घटना के बाद धन्ना को शौच की शंका हुई। उसने विजय से कहा—

"विजय ! चल उठ। मुझे शंका-निवारण के लिए शौचालय जाना है।"

विजय ने टका-सा जवाब दिया—

"मैं क्यों जाऊँ ? मैं नहीं जाता। मुझे तो शंका नहीं हो रही। मालपुए, जलेबी, पूड़ियाँ तुम उड़ाते हो। जो खायेगा, वही शौच जायेगा। मैं तो सोऊँगा।"

धन्ना बुरा फँसा। अब क्या करे ? विजय की खूब आजीजी की, खुशामद की। विजय कब चूकने वाला था। धन्ना की मजबूरी का फायदा उठाते हुए बोला—

"वादा करो। तुम्हारे लिए घर से जो खाना आता है, उसमें से आधा मुझे भी दोगे और रोज दोगे।"

धन्ना को मजबूर होकर वादा करना पड़ा—

"हाँ, दूँगा। तुझे रोज खाना दूँगा, पर अब जल्दी उठ।"

मजबूरी में अपने मतलब के लिए धन्ना विजय को भी खाना खिलाता। एक दिन पंथक ने देखा। उसने जाकर सेठानी से कहा—

"मालकिन ! सेठजी अपने पुत्रघाती को रोज खाना खिलाते हैं। मैंने खुद अपनी आँखों से देखा है।"

सेठानी बोली—

"अच्छा ! आने दे उन्हें। जब कारागार से मुक्त होकर आयेंगे तो मैं उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखूँगी। मेरे पुत्रघाती को खाना देते हैं वे ? कैसा अचरज है, क्या उनका बेटा नहीं था देवदत्त......?"

कुछ समय बाद धन्ना सेठ की दण्डावधि पूरी हुई और वे छोड़ दिये गए। विजय कारागार में ही सड़ता रहा। जब श्रेष्ठी धन्ना घर आये तो सेठानी ने कोई स्वागत नहीं किया, बल्कि मुँह फुलाकर बैठ गई, बोली भी नहीं। धन्ना को बड़ा दुःख हुआ, पत्नी के इस व्यवहार से। दुःख के साथ आश्चर्य अधिक था। अतः कारण जानने के लिए वे स्वयं ही सेठानी से बोले—

"भद्रा! इतने दिन बाद कारागार से आया हूँ और तू बोलती भी नहीं। आखिर बात क्या है? कुछ बता तो सही।"

सेठानी भद्रा ने बताया—

"मैंने नौ महीने गर्भ में रखा, लालन-पालन किया और मेरे इकलौते बेटे को विजय ने मार डाला। उसी विजय को तुम अपना खाना खिलाते थे। जाओ, मैं तुमसे नहीं बोलूंगी।"

सेठजी इस शिकायत पर मुस्कराये और बोले—

"अरे पगली! अगर मैं उसे खाना न खिलाता तो जिन्दा कैसे रहता? उसे खिलाना मेरी विवशता थी।"

सेठ ने पूरी बात बताई और सेठानी को समझाया। सेठानी का भ्रम दूर हो गया। हँसकर बोली—

"तो यह बात थी। फिर तो खिलाना ही पड़ता। मैं तो समझी थी कि कहीं आपका उससे ममत्व तो नहीं है।"

"ममत्व कैसे होता? क्या देवदत्त मेरा पुत्र नहीं था, पर जीवन रक्षा के लिए ममत्वरहित होकर भी खिलाना ही चाहिए।"

जीवन के उत्तरार्द्ध में धन्ना श्रेष्ठी ने मुनि धर्मघोष की देशना सुनी और दीक्षित होकर संयम का पालन करने लगे। अन्त में मुनि धन्ना ने संथारा करके शरीर त्यागा और देवलोक प्राप्त किया।

× × ×

है। देही (आत्मा) का देह के प्रति कोई ममत्व नहीं होना चाहिए ; जैसे धन्ना का विजय के लिए नहीं था। धन्ना विजय को भोजन देता था। तुम शरीर को भोजन दो, पर उस पर ममत्व मत रखो। शरीर से काम लेना है, इसीलिए उसे भोजन देना है। शरीर अपना नहीं। उसे अपना मानकर उसका पोषण करने वाला व्यक्ति इस संसार रूपी कारागार से कभी मुक्त नहीं हो सकता। धन्ना और विजय का सा सम्बन्ध देही (आत्मा) और देह का है।

[ज्ञातासूत्र २]

●

धीरज और विश्वास का फल | २

धैर्य का फल सदा मीठा होता है। तिल से भी छोटा बरगद का बीज धैर्य के कारण ही एक दिन विशाल वृक्ष बन जाता है। धैर्य की कोई कीमत नहीं, मुफ्त में मिलता है, धैर्य; फिर भी लोग धैर्य नहीं रख पाते और अपने हाथों अपना विनाश कर लेते हैं।

चम्पानगरी में अजातशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। चम्पानगरी रम्य और सुन्दर थी। इसी नगरी में जिनदत्त और सागरदत्त नाम के दो श्रेष्ठि-पुत्र रहते थे। दोनों अलग-अलग पिताओं की सन्तान थे; फिर भी उनमें सगे भाई जैसा प्रेम और सौहार्द था। जिनदत्त-सागरदत्त प्राय: साथ-साथ ही रहते थे। उठना-बैठना, खाना-पीना, घूमना आदि सब साथ-साथ चलता था।

एक दिन की बात है। सवेरे का समय था और मौसम सुहाना था। जिनदत्त और सागरदत्त को वनभ्रमण की इच्छा जाग्रत हुई। जिनदत्त ने कहा—

"मित्र! यहाँ बैठे-बैठे क्या मिलेगा? चलो, उद्यान की ओर चलें। घूम आयें।"

सागरदत्त ने कहा—

"अकेले क्या जाएँगे? चलो पहले नगरवधू देवदत्ता के यहाँ चलें। उसे भी साथ ले लेंगे। उसके साथ रहने से कुछ बात ही और होगी। नृत्य-संगीत का भी आनन्द आयेगा।"

गणिका देवदत्ता धन लेकर अपने हाव-भावों और गाने-बजाने से नगरजनों का मन बहलाती थी। इन दोनों मित्रों का उसके यहाँ आना-जाना था। अतः मन हुआ और उसके आवास पर पहुँच गए। देवदत्ता को भला क्या ऐतराज होता? उसे तो धन चाहिए। फिर कहीं भी ले जाओ।

थोड़ी ही देर बाद तीनों प्राणी वन में पहुँचे। कुछ देर एक लता-मण्डप के नीचे बैठे। फिर घूमकर प्रकृति की छटा का आनन्द लेने लगे। जब ये तीनों एक लतामंडप के पास पहुँचे तो वहाँ इन्हें एक मोरनी बैठी मिली। इनकी आहट पाकर मोरनी उड़कर एक पेड़ पर जा बैठी और इन्होंने देखा कि मोरनी के बैठने वाले स्थान पर उसके दो अण्डे रखे थे।

जिनदत्त ने कहा—

"अरे! यह मोरनी अपने पेट के नीचे ढककर अण्डों को गरमी पहुँचा रही थी। इसी तरह तो अण्डे पकते हैं और उनमें बच्चा बनता है।"

बातें करते-करते जिनदत्त ने एक अण्डा उठा लिया। सागरदत्त ने पूछा—

"तुम इसका क्या करोगे?"

जिनदत्त ने बताया—

"इसे मुर्गी के अण्डों के पास रख दूँगा। मुर्गी अपने अण्डों को गरमी पहुँचायेगी। उसके अण्डों के साथ यह अण्डा भी पक जायगा और फिर इसमें से सुन्दर-सा एक मयूर-शावक निकलेगा। शावक बड़ा होगा और एक दिन मोर बन जायगा।"

"उसके बाद?" सागरदत्त ने पूछा।

"तो फिर एक अण्डा मैं लिये लेता हूँ।" यह कहकर दूसरा अण्डा सागरदत्त ने उठा लिया। मोरनी इन दोनों दुरात्माओं को कातर दृष्टि से देख रही थी। पर बेचारी कर भी क्या सकती थी ? आँसू बहाकर रह गई।

दोनों मित्र एक-एक अण्डा लेकर घर लौट आये। देवदत्ता भी अपने घर चली गई। दोनों ने अपना-अपना अण्डा मुर्गी के अण्डों के पास परिपक्व होने के लिए रख दिया।

सागरदत्त संशयी (शक्की) और अधीर हृदय वाला प्राणी था। वह रोज अण्डे को उठाता, हिलाता और हिला-हिलाकर कान के पास ले जाता। सोचता, 'इसमें से तो कोई आवाज ही नहीं आती। अभी बच्चा बना ही नहीं। पता नहीं, बच्चा बनेगा भी या नहीं।' इस तरह रोज-रोज उठाने, हिलाने से अण्डे का जीव नष्ट हो गया और अण्डा बिगड़कर सड़ गया। एक दिन क्रोध में आकर सागरदत्त ने अण्डा फेंक दिया। परिणाम वही हुआ, जो संशय और अधैर्य का होता है।

इसके विपरीत जिनदत्त ने एक बार अण्डा मुर्गी के अण्डों के पास रखा तो फिर रखा ही रहने दिया। उसे विश्वास था कि मोरनी का अण्डा है तो इसमें से एक दिन मयूर-शावक अवश्य निकलेगा। समय आने पर ही अण्डा परिपक्व होगा।

धैर्य का फल मीठा होता है न, सो एक दिन अण्डे में से मोर का बच्चा निकला। बच्चा बड़ा हुआ और आकर्षक पंखों से पूर्ण हो गया। जिनदत्त ने उसे मयूर-शिक्षक द्वारा नृत्य सिखवाया और एक दिन जिन-दत्त का मोर कलापूर्ण नृत्य करके दर्शकों का मन मोहने लगा। उसके छोटे-छोटे सुरमई रंग के पैरों में बँधे घुँघरू बड़ी सुरीली ध्वनि में बजते थे। दर्शकों का समूह उमड़ पड़ता और तालियों की गड़गड़ाहट से वातावरण गूँज उठता।

इन दर्शकों में सागरदत्त भी होता। लेकिन उसका चेहरा उतरा हुआ रहता। उसे हर बार उदास देखकर जिनदत्त ने समझाया—

आत्म-नियन्त्रण | ३

वाराणसी नगरी गंगा के तट पर बसी है। पुराने समय में इसकी शोभा कुछ और ही थी। कैलास-शिखर के समान ऊँचे-ऊँचे भव्य-भवन मानो, अलकापुरी के वैभव को चुनौती देने के लिए ऊपर उठे हुए थे। गंगा की लहरों की तरह सुख-समृद्धि की लहरें काशी के जन मानस में उठा करती थीं। इसी पुण्यतोया गंगा के निकट 'मृतगंगा' नामक एक (छोटा तालाब) था और उसके पास ही था मालुकाकच्छ नामक एक सघन-सुन्दर वन। वन से उस लघु सरोवर की शोभा थी और सरोवर से वन थी। वन्य जीवों के लिए सरोवर का ही एक सहारा था। उसी के जल से उनकी पिपासा शान्त होती थी। लेकिन राहगीर पथिकों के लिए तो दोनों का ही सहारा था। सरोवर का पानी पीते, हाथ मुँह धोकर श्रम का परिहार करते और वन की सघन छाया में लेटकर विश्राम करते।

जाड़ों की प्रात:कालीन धूप अथवा गरमियों की शीतल संध्या—ये दो ही समय ऐसे थे, जब सरोवर के कुछ जीव जल से बाहर निकलकर थल की सैर करते और देखते कि जल से बाहर की दुनिया कैसी है। एक बार संध्या के समय ठंडी बालू पर दो कछुए विचरण कर रहे थे। उनकी चाल में धीमापन था, पर साथ ही निरन्तरता भी थी। उसी समय दो धूर्त शृगाल पानी पीने जंगल से निकले। कछुओं को घूमते देख उनकी जीभ से लार टपकने लगी। दोनों पानी पीना भूल अपने भक्ष्य कछुओं की ओर दौड़ पड़े। कछुओं ने भी देख

कर गए। उसके बाद दूसरे कछुए के रेंगने की प्रतीक्षा करने लगे। लेकिन दूसरे कछुए ने अपना धीरज नहीं छोड़ा। वह अपनी इन्द्रियों को समेटे पड़ा ही रहा। हार-थक कर शृगाल लौट गए। संध्या रात्रि में बदल गई। बालू पर श्वेत चन्द्रिका छिटकी हुई थी। कछुए को जब निश्चय हो गया कि शृगाल चले गए तो धीरे-धीरे सरोवर में पैठ गया।

जिसने धीरज खोया, उसने अपना जीवन भी खो दिया। धैर्य और संयम (आत्म-नियंत्रण) से ही सिद्धि मिलती है। उतावलेपन से लक्ष्य हाथ में आते-आते रह जाता है।

[ज्ञातासूत्र ४]

४ | नींद उचट गई

जन्म-मरण का चक्र चलता है, संसार में। इसीलिए संसार है। संयोग की परिणति वियोग में, उदय की अस्त में, भोग की रोग में और जन्म का अन्त मृत्यु में होता है। सेठानी थावच्चा के पुत्र ने वचपन में जन्म-मरण के दृश्य एक के वाद एक देखे थे। पहले जन्म के मंगल गीत सुने तो उसके तुरन्त वाद उसी जातक की मृत्यु का रुदन भी सुना। उसी क्षण से थावच्चापुत्र में अमरता प्राप्त करने की लगन लग गई। वैराग्य का संस्कार पड़ गया।

थावच्चापुत्र युवा और वत्तीस रमणियों का स्वामी वन गया था। भगवान अरिष्टनेमि की देशना सुनी तो वचपन का संस्कार जाग्रत हो गया और अमरता का खोजी थावच्चापुत्र मुनि वनकर भगवान के साथ हो लिया।

तप, संयम, अध्ययन, चिन्तन-मनन आदि के द्वारा ऋषि-मुनि, साधु-संन्यासी स्वकल्याण ही नहीं करते, जनकल्याण भी करते हैं। मुनिजन मुमुक्षुओं को—अल्पज्ञ-अज्ञानियों को सदुपदेश देते हैं, आत्म-कल्याण का सुपथ वताते हैं और धर्मनौका पर विठाकर भवसागर से पार लगाते हैं। इसीलिए मुनियों को तरण-तारण कहा जाता है।

मुनिवर थावच्चापुत्र ऐसे ही सन्त शिरोमणि थे, जो घूम-घूमकर धर्म-विमुख जीवों को सद्धर्म का—निर्ग्रंथ धर्म का सुपथ वताते थे। महामुनि थावच्चापुत्र आगमज्ञानी वनकर एक हजार श्रमणों के साथ नगर-नगर, गाँव-गाँव धर्म प्रचार करने लगे। इस प्रकार घूम-घू

मुनिश्रेष्ठ थावच्चापुत्र जन-मन के अन्तर्लोक में समता, शील, सन्तोष, दया, त्याग और मानवता का दीप जलाते थे ।

इसी क्रम में महामुनि थावच्चापुत्र सेलगपुर नामक नगर पहुँचे और नगर के बाहर स्थित सुभूमिभाग नामक राजोद्यान में ठहरे। सेलगपुर का राजा सेलक अपनी पटरानी पद्मावती, पुत्र मण्डूक तथा महामंत्री पंथक सहित मुनिश्री के दर्शन करने सुभूमिभाग उद्यान पहुँचा। राजा, रानी, युवराज तथा मंत्री सभी ने मुनि थावच्चापुत्र की देशना सुनी और प्रभावित होकर श्रावक के बारह व्रत धारण किये। महामंत्री पंथक के साथ ही मंत्रिमण्डल के पाँच सौ मंत्रियों ने भी श्रावकव्रत धारण किये। यथासमय मुनि ने सुभूमिभाग उद्यान से अन्यत्र विहार किया।

घूमते-विचरते मुनि थावच्चापुत्र सोगंधिया नगरी पहुँचे और नीलाशोक उद्यान में विराजित हुए। इस नगरी में सुदर्शन नाम का एक धर्मनिष्ठ सेठ रहता था। यह सेठ शौच-सम्प्रदाय के सन्त शुक का शिष्य था। शौचमत में आस्था रखने वाला सेठ सुदर्शन सत्यान्वेषी था, इसलिए निर्ग्रंथ सम्प्रदाय के मुनि थावच्चापुत्र की धर्मदेशना सुनने नीलाशोक उद्यान में पहुँचा। बहुजनों की सभा में बैठकर सेठ ने मुनि की देशना सुनी तो प्रभावित हुआ और फिर अपने मन में उठी शंकाओं का निवारण करने के लिए मुनि थावच्चापुत्र से अनेक प्रश्न पूछे। मुनिश्री ने सभी शंकाओं का सटीक समाधान किया। सच्ची बात प्रभाव डालती है। सेठ सुदर्शन दुराग्रही नहीं था, अतः उसने तुरन्त जैनमत स्वीकार कर लिया।

कुछ ही दिनों बाद शौच सम्प्रदायी सन्त शुक सोगन्धिया नगरी में आये। मुनि थावच्चापुत्र अभी नीलाशोक उद्यान में ही विराजित थे। शुक ने सुना कि सुदर्शन ने मेरा मत त्याग कर जैनमत स्वीकार कर लिया है तो अपने शिष्य सेठ सुदर्शन पर बहुत बिगड़ा। सेठ ने कहा—

"संतवर ! सच्ची और युक्तियुक्त बात मैं कैसे न मानता। आपकी मान्यताएँ बालू की भीत थीं सो ढह गईं और मैंने श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया।"

सन्त शुक बोले—

"अगर ऐसी ही बात है तो तुम्हारे गुरु थावच्चापुत्र से मैं भी शास्त्रार्थ करूँगा। पृथ्वी पर वही धर्म टिकेगा, जो कुछ सार रखता हो। यदि मेरा धर्म निस्सार होगा तो मैं भी श्रमण मत स्वीकार कर लूँगा या फिर तुम्हारे गुरु और तुम्हें दोनों को शौच सम्प्रदाय में ले आऊँगा।"

यह कह संत शुक थावच्चापुत्र के पास नीलाशोक उद्यान पहुँचे। दोनों ओर से विचार-विमर्श हुआ। संत शुक ने कहा—

"शौच अथवा शुद्धि के बिना जीव का कल्याण नहीं। तन से शुद्ध, वस्त्रों से शुद्ध और विचारों से शुद्ध। पाँचों समय के स्नान-मार्जन से ही व्यक्ति शुद्ध हो पाता है।"

थावच्चापुत्र ने बताया—

"सन्तवर ! शुद्धि का तो मैं भी कायल हूँ। लेकिन बाहरी स्नान-मार्जन से आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती, जब तक कि चारित्र पर्याय का पालन करके आत्मा के कर्ममल को न धोया जाए। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों को हटाकर आत्मा को निर्मल न किया जाए, तब तक शुद्धि कैसे होगी ?"

बात में से बात निकलती गई और मुनि थावच्चापुत्र की हर बात सन्त शुक के गले उतरती चली गई। सच्चा जिज्ञासु कभी भी दुराग्रही या हठी नहीं होता। मुख्य ध्येय तो सत्यान्वेषण और आत्म-कल्याण है। यही कारण रहा कि संत शुक मुनि शुक बन गए और मुनि थावच्चापुत्र से दीक्षा अंगीकार कर ली। इसके साथ ही मुनि शुक के हजारों शिष्यों ने भी श्रमणधर्म स्वीकार कर लिया।

× × ×

हजारों शिष्यों-श्रमणों के साथ विहार करते हुए मुनिश्री शुक सेलगपुर नगर पहुँचे और सुभूमिभाग उद्यान में ठहरे। मुनि आगमन सुन राजा सेलक, रानी पद्मावती, युवराज मण्डूक और महामन्त्री पंथक सुभूमिभाग उद्यान पहुँचे। सबने मुनि शुक की देशना सुनी तो प्रतिबोधित हुए। राजा सेलक ने चारित्र ग्रहण करने की पहल की और अपने पुत्र मण्डूक को राज सिंहासन सौंप कर दीक्षा अंगीकार कर ली। सदा साथ रहने वाला महामन्त्री पंथक भी पीछे नहीं रहा, अपने साथी मंत्रियों सहित उसने भी दीक्षा अंगीकार कर ली। पति के साथ महारानी पद्मावती भी दीक्षित हुई। आत्म-कल्याण के इच्छुक इन सभी साधकों ने मुनि शुक के साथ सेलगपुर से अन्यत्र विहार कर दिया।

राजर्षि सेलक, मुनि पंथक तथा अन्य मुनि घोर तप द्वारा मुनि जीवन की सार्थकता सिद्ध कर रहे थे। पंथक आदि मुनि गुरुभाव से मुनि सेलक की सेवा करते थे। राजसुखों के अभ्यासी मुनि सेलक ने अपने शरीर की कोई परवा नहीं की और सब परीषहों को समभाव-पूर्वक सहते हुए चारित्र पर्याय का पालन करने लगे।

तपश्चर्या में तन्मय और लीन राजर्षि सेलक को खाने-पीने का भी ध्यान नहीं रहता। फिर साधु-मर्यादा के अनुसार रूखा-सूखा जो भी मिलता, खा लेते। परिणाम यह हुआ कि राज-सुखों का अभ्यासी उनका शरीर अस्वस्थ हो गया। मुनि सेलक पित्तज्वर से ग्रसित हो गए और साथ ही खुजली भी हो गई। इतने पर भी मुनि ने शरीर-व्याधि की कोई चिन्ता नहीं की। शरीर जाए या रहे, मुख्य साध्य तो सिद्धि है। ऐसी रुग्ण दशा में भी वे विहार करते थे। एक बार मुनि पंथक आदि के साथ मुनि सेलक सेलगपुर पहुँचे। एक दिन वे यहाँ के राजा थे और आज मुनि बनकर जनता को जगाने आये थे। उनका आगमन सुन जनता दर्शनों को उमड़ पड़ी। राजा मण्डूक भी अपने पिता-मुनि की वन्दना करने सुभूमिभाग उद्यान पहुँचा।

राजा मण्डूक ने देखा कि मुनिवर सेलक रुग्ण हैं। उसका हृदय

भर आया। एक तो मुनि-संत वैसे ही परमाराध्य होते हैं। दूसरे, वे राजा मण्डूक के पिता भी तो थे। अतः मण्डूक ने प्रार्थना की—

"प्रभो ! काया राखे धर्म है। धर्म की साधना के लिए काया का होना तो अनिवार्य है ही; साथ ही काया का स्वस्थ-नीरोग होना भी जरूरी है। अतः आप चिकित्सा कराइये और स्वस्थ होकर ही पुनः साधना कीजिए।"

बात सही थी। मुनि पंथक ने भी अनुमोदन किया—

"गुरुदेव ! मैं आपकी सेवा करूँगा। आप चिकित्सा कराइये। शीघ्र ही स्वस्थ हो जायेंगे। स्वस्थता में समाधि व ध्यान भी ठीक होता है।

मुनि सेलक इस प्रेमाग्रह को नहीं टाल सके और उन्होंने सेलग-पुर में रहकर स्वास्थ्यलाभ करना स्वीकार कर लिया। मुनि ने नगर में पदार्पण किया। चिकित्सा होने लगी। सुपथ्य-सेवन और चिकित्सा द्वारा राजर्षि सेलक शीघ्र ही स्वस्थ व नीरोग हो गए। लेकिन साथ ही प्रमाद का रोग भी लग गया। मुनि सेलक सुख में डूब गए। अब वे सुस्वादु भोजन करने लगे, यहाँ तक कि निषिद्ध (मर्यादा-विरुद्ध) आहार भी लेने लगे। अब उन्होंने अन्यत्र विहार करने का विचार भी त्याग दिया। कठोर मुनिचर्या पालन करने वाले साधक सेलक सुखों की ओर उन्मुख हो गए। साथ के मुनियों को चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा—'कर्मों का यह कैसा उदय है कि मुनि सेलक कहाँ से कहाँ पहुँच गए ? कहाँ तो तप में इतने डूबे थे कि शरीर की चिन्ता नहीं थी और अब खाना-सोना ही शेष रह गया है। हमें तो अब विहार करना ही चाहिए। कहीं हम में भी शिथिलता न आ जाए।' यह सोच मुनियों ने पंथक मुनि को गुरु की सेवा में छोड़कर अन्यत्र विहार कर दिया।

मुनि पंथक गुरु-मुनि सेलक की सेवा करते थे और मुनि सेलक खा-पीकर आराम से नींद का सुख लेते थे। पंथक मुनि अत्यन्त विनम्र

और विवेकी थे। वे गुरु को जगाना चाहते थे, पर ठोकर मारकर नहीं, स्नेह एवं सेवा की थपकी लगाकर। एक बार कार्तिक पूर्णिमा को भोजनादि से निवृत्त हो राजर्षि सेलक सो रहे थे। मुनि पंथक ने चातुर्मासिक पक्खी का प्रतिक्रमण किया और 'खमासमणो' द्वारा गुरु सेलक से क्षमा माँगने पहुँचे। मुनि पंथक ने सोये हुए मुनि के चरणों का स्पर्श किया तो मुनि सेलक की नींद उचट गई। उन्हें असमय में नींद का उचटना अखर गया। अतः झल्लाकर बोले—

"किस दुष्ट ने मेरी नींद उचटाई है? जानता नहीं, मैं सो रहा था?"

विनीत शिष्य मुनि पंथक ने विनम्र वाणी में कहा—

"गुरुदेव! आपकी नींद उचटाना मेरा उद्देश्य नहीं था। मैं तो चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके अपने अपराधों की क्षमा माँगने आपके पास आया हूँ, सो गुरुदेव! मेरे सभी अपराध क्षमा कीजिए।"

मुनि सेलक की नींद मुनि पंथक ने उचटा दी थी और अब मुनि पंथक की विनय-वाणी ने उनकी भीतरी आँखें भी खोल दीं। अब सचमुच ही नींद उचट गई थी। मुनि सेलक विचार करने लगे—

"अरे, मैं तो बहुत सोया। किसी ने नहीं जगाया? इसमें किसी का क्या दोष? स्वयं मुझे ही तो नींद प्यारी थी, पर विनीत शिष्य पंथक ने अब तो नींद उचटा ही दी। अब सोना कैसा? क्या कर डाला मैंने? मुनि जीवन को भूल ही गया। राज ऐश्वर्य को ठोकर मार कर मुनिचर्या अपनाई थी और अब मुनि जीवन का त्याग कर फिर सुखों में सो गया।"

पश्चात्ताप की अग्नि में पिछली भूलें—दुर्बलताएँ जल जाती हैं। मुनि सेलक उठ खड़े हुए। और अब पंथक मुनि से अपनी भूल व प्रमाद के लिए क्षमा माँगने लगे—

"पंथक! तुमने सचमुच ही मुझे जगा दिया।"

दूसरे ही दिन उन्होंने पंथक मुनि के साथ विहार किया। पहले गए अन्य मुनियों को भी मालूम हो गया कि गुरुदेव सेलक पुनः अपनी मर्यादा में स्थिर हो गए हैं तो वे सब पुनः उनकी सेवा में आ गए।

मुनि सेलक पुनः साधना में डट गए। साथ ही अपने प्रवचनों द्वारा संसारी जीवों को भी सुपथ दिखाया और अन्त में संथारा-संलेखना करके पुण्डरीक पर्वत पर शरीर त्याग कर मोक्ष प्राप्त किया।

[ज्ञातासूत्र ५]

अमरता को खोजो | ५

माँ-बेटे, घर में यही दो प्राणी थे। अन्य लोगों में दास-दासी तथा नौकर-चाकर थे। माँ विधवा थी और बालक पितृहीन। बालक पिता का प्रेम भी माता से प्राप्त करता था और माँ के लिए यह पुत्र ही जीवन का सहारा—अंधे की लकड़ी था। बालक की उम्र लगभग नौ वर्ष की ही थी। गोरा मुख, घुँघराले बाल और जीवन में बनने के कुछ शुभ लक्षणों को लिये हुए सेठानी के इस पुत्र ने अपने पिता को देखा भी नहीं था, क्योंकि होश संभालने से पहले ही सेठ का निधन हो गया था।

सेठानी अपने पुत्र की जिज्ञासाओं और प्रश्नों का उत्तर बड़ी शान्ति से देती और बालक भी सन्तुष्ट हो जाता। लेकिन कभी-कभी बालक ऐसे प्रश्न करता, कि माँ को कोई उत्तर न सूझता और वह झुंझला कर कहती—

"तू तो मेरे कान खाये डालता है। जा खेल। मेरा सिर मत खा।"

माँ का रुख देखकर कभी तो बालक खेलने चला जाता और कभी हठ करके बैठ जाता। तब सेठानी को कुछ-न-कुछ जवाब देना ही पड़ता।

सुबह का सुहाना समय था। मन्द-मन्द प्रातः समीरण नव जीवन प्रदान कर रहा था। बालक अपने घर की छत पर बैठा नीचे पड़ोसी के आँगन में झाँककर तल्लीन होकर देख रहा था। ढोलक पर पड़ने वाली थाप और रुन-झुन घुँघुरुओं का बजना अच्छा लग रहा था। नृत्यांगनाओं के पैर थिरक रहे थे और कोकिल-कंठी रमणियाँ गीत

गा रही थीं। ऐसे गीत वालक ने आज पहली बार ही सुने थे। वालक ने सोचा, इस आनन्द में माँ को शामिल कर लूँ। यह सोच, वह दौड़ता हुआ नीचे आया और माँ से बोला—

"माँ ! चल, मेरे साथ ऊपर चल। तू भी सुन। वड़े अच्छे गीत गाये जा रहे हैं।"

सेठानी ने कहा—

"मुझे मालूम है। हमारे पड़ोसी के घर लड़का हुआ है। उसके जन्म की खुशी में मंगलगीत गाये जा रहे हैं। जा, तू ही सुन। मुझे कुछ काम करने दे। देख, दिन कितना चढ़ गया !"

वालक के मन में एक प्रश्न उठा। क्योंकि वात में से वात निकालने की उसकी आदत थी। माँ से वोला—

"तो क्या मेरे जन्म पर भी तूने ऐसे मंगलगीत गवाये थे ?"

वालक के सिर पर हाथ फेरते हुए सेठानी बोली—

"हाँ रे ! तेरे जन्म पर तो मैंने इनसे भी अच्छे मंगलगीत गवाये थे। हमारा यह आँगन खचाखच भर गया था। तेरे जन्म की खुशी में तेरे पिता ने खजाने खाली कर दिये थे....।"

कहते-कहते सेठानी को अपने स्वर्गीय पति का स्मरण हो आया और वह कुछ उदास हो गई। उसे डर था कि उसका नटखट लाड़ला कुछ और न पूछ बैठे। पर वालक अपनी धुन में मस्त था, सो उछलता-कूदता ऊपर चढ़ गया, मंगलगीत सुनने के लिए। लेकिन वालक ऊपर नहीं ठहर पाया। शीघ्र ही उल्टे पैरों लौट आया और माँ से वोला—

"माँ ! तनिक देर में ही गीत वदल गए। अव तो वहुत बुरे गीत गाये जा रहे हैं। ढोलकें लुढ़की पड़ी हैं। स्त्रियाँ गला फाड़-फाड़ कर छाती पीट रही हैं।

"माँ ! क्या जन्म-दिन पर दो तरह के गीत गाये जाते हैं ? ये दूसरे गीत मुझे नहीं सुहाते। पहले गीत ही अच्छे थे।"

सेठानी वास्तविकता समझ गई। उसने कान लगाकर सुना...

"अरे लाल ! तू हमें छोड़कर कहाँ चला गया ? अरे लाल ! क्या तू हमें रुलाने ही आया था ?"

सेठानी अपने पुत्र से बोली—

"बेटा ! ये गीत मंगलगीत नहीं हैं। ये तो रोना है। गाना-रोना तो हमारे जीवन के साथ जुड़ा है। जब कुछ पाते हैं तो गाते हैं और जब खोते हैं तो रोते हैं।

"बेटा ! हमारे पड़ोसी का लड़का अभी-अभी मर गया है। अब वह कभी लौटकर नहीं आयेगा। इसी दुःख में सब रो रहे हैं।"

"माँ ! लेकिन वह मर क्यों गया ? वह तो मेरी बराबर भी नहीं हुआ। उसे मरना नहीं चाहिए, माँ !"

बालक के भोलेपन पर बलिहार हो गई सेठानी। बोली—

"बेटा ! मरना, न मरना अपने हाथ में नहीं है। मरने का कोई समय नहीं, जब मौत आ जाए, तभी मरना पड़ता है।"

"माँ ! तो क्या मैं भी मर जाऊँगा ?"

बालक के मुँह पर हाथ रखते हुए सेठानी बोली—

"ऐसी अशुभ बात फिर मत कहना। मेरा कलेजा धुक्-धुक् कर रहा है।"

बालक कुछ सहम गया। बोला—

"माँ ! मैं अशुभ बात नहीं कहूँगा, पर तू मुझे सच्ची बात बता दे। कौन मरता है और कौन नहीं मरता ? क्या मरने की अशुभ बात न कहने से मौत टल जाती है ?"

सेठानी ने सोचा, बालक हठी है। पूछकर ही मानेगा। फिर सच बात बताने में हर्ज ही क्या है ? यह सोच सेठानी बोली—

"बेटा ! यह संसार द्वन्द्वात्मक है। तू द्वन्द्वात्मक नहीं समझेगा। सुन, दो विरोधी चीजों को साथ लेकर ही यह संसार चलता है; जैसे पाना-खोना, गाना-रोना और मरना-जीना। जन्म-मृत्यु साथ-साथ रहती हैं। यहाँ हरेक को मरना पड़ता है। जो जन्म लेता है, वह

होनी चाहिए कि तेरा बेटा अमरता को खोजकर मृत्युञ्जयी बनना चाहता है।"

सेठानी ने बताया—

"बेटा! क्या साधु बनने के लिए ही मैंने तुझे जन्म दिया है? अभी तो मैं तुझे पढ़ा-लिखा कर सुयोग्य बनाऊँगी, फिर तेरा विवाह करूँगी। अगर तुझे संयम की अनुमति दे दूँगी तो मेरी ये आशाएँ कैसे पूरी होंगी?"

बालक चुप हो गया। अभी से बात बढ़ाने से लाभ ही क्या है? पता नहीं, भगवान नेमिनाथ कब आयें। बालक के मन में माँ की अनुमति की चिन्ता से ज्यादा भगवान के पधारने की प्रतीक्षा थी। अनुमति तो हठ करके ले ही लूँगा, पर पहले भगवान आयें तो।

बालक खेलने चला गया। दिन-पर-दिन और महीने-पर-महीने बीतने लगे। आज की घटना बालक के अन्तर्मन के किसी कोने में उसी प्रकार छिपी पड़ी थी, जैसे राख के नीचे कोई चिन्गारी छिपी रहती है। एक तरह से संयम लेने की बात बालक भूल ही गया।

× × ×

आज से हजारों वर्ष पहले स्वर्गपुरी के समान शोभासम्पन्न द्वारका नगरी में वासुदेव श्रीकृष्ण राज्य करते थे। भगवान नेमिनाथ द्वारकाधीश श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। इन दिनों बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ की धर्म-दुन्दुभी बज रही थी। उनकी वाणी में ऐसा प्रभाव था कि सुनते ही धर्मात्माओं के हृदय में छिपा वैराग्य बीज अंकुरित हो उठता था। जब बीज ही नहीं तो अंकुरण कैसा, इसलिए पापात्मा प्राणी जैसे-के-तैसे ही बने रहते थे।

वासुदेव श्रीकृष्ण के शासनकाल में कोई दुखी नहीं था। यों सापेक्ष सम्बन्ध से धनी-निर्धन—दोनों ही प्रकार के लोग थे, पर सभी सुखी थे। इसी द्वारका में एक धनी सेठ रहता था। उसकी सेठानी थी, थावच्चा। थावच्चा ने एक पुत्र को जन्म दिया था। पुत्र-जन्म के कुछ

ही दिनों बाद सेठानी थावच्चा विधवा हो गई। बड़े लाड़-प्यार से उसने अपने बेटे को बड़ा किया। थावच्चा के बालक का नाम कुछ भी रहा हो, पर वह थावच्चापुत्र अथवा थावच्चानन्दन के नाम से ही प्रसिद्ध था।

थावच्चापुत्र ही सेठानी थावच्चा का एक मात्र सहारा था। जब उसने देखा कि मेरे पुत्र में वैराग्य का बीज है तो चिन्तित हो उठी थी। क्योंकि जब बीज है तो अनुकूल जलवायु पाकर अंकुरित अवश्य होगा और जब अंकुरित होगा तो वृक्ष लहलहायेगा। लेकिन मैं उसे अनुमति नहीं दूँगी। पर क्या अपने स्वार्थ के लिए उसे आत्मकल्याण से रोकना अनुचित न होगा ?....लेकिन अब तो वह भी संयम की—अमरता की खोज की बात भूलता जा रहा है। हो सकता है, वह खुद ही अनुमति न माँगे।

वर्ष-पर-वर्ष भी बीते। थावच्चापुत्र पढ़-लिखकर विद्यावान बन गया। थावच्चा ने बत्तीस श्रेष्ठि-कन्याओं के साथ अपने पुत्र का विवाह किया। बरात लौटकर आई थी। सेठानी थावच्चा का आँगन खचाखच भरा हुआ था अपार वैभव से। विवाह के मंगलगीत गाये जा रहे थे। इन गीतों को सुनकर थावच्चापुत्र की स्मृति जाग उठी—'ओह! बचपन में भी मैंने ऐसे मंगलगीत सुने थे—जन्म के मंगलगीत। ऊपर से नीचे आकर पुनः ऊपर जाने—इतनी ही देर में गीत बदल गए थे। गाने का स्थान रोने ने ले लिया था। अब इस गाने-रोने, मरने और जन्म लेने के द्वन्द्व से मुक्त होना है। माँ की आशाएँ भी पूरी हो गई। पढ़ा-लिखाकर मेरा व्याह भी इन्होंने कर दिया। अब तो वे अनुमति दे ही देंगी। पर भगवान नेमिनाथ तो आयें।

थावच्चा के मन में उधेड़-बुन होती रहती थी। उसके मन की पुकार शायद भगवान ने सुन ही ली, क्योंकि वे द्वारका में पधारे थे। द्वारकापुरी के ईशान कोण में उज्जयन्त पर्वत है। इसकी चोटियाँ बड़ी दुर्गम तथा भवपारावार की तरह दुर्लंघ्य है। फल-फूल वाले वृक्षों

से आच्छादित इस उज्जयन्त पर्वत पर अशोक वृक्ष के नीचे भगवान नेमिनाथ विराजमान हुए।

तीर्थंकर नेमिनाथ के पदार्पण का संवाद वासुदेव श्रीकृष्ण को भी मिल गया। द्वारका हर्ष से उमड़ पड़ी। श्रीकृष्ण की आज्ञा से सुधर्मा भेरी बजाकर प्रभु आगमन की सूचना द्वारका में फैला दी गई। अपनी सभी पटरानियों तथा सेवकों-पार्षदों सहित श्रीकृष्ण तीर्थंकर नेमिनाथ की वन्दना करने उज्जयन्त पर्वत पर पहुँचे।

थावच्चापुत्र को तो इसी दिन की प्रतीक्षा थी, अतः वह कैसे पीछे रहता? वह भी प्रभु की देशना सुनने पहुँच गया। प्रभु के समवसरण की भीड़ को देखकर ऐसा लगता था कि समस्त द्वारका ही इस पर्वत पर आ बसी है।

सबने प्रभु की देशना सुनी। बहुत से श्रोता प्रतिबोधित हुए। थावच्चापुत्र के हृदय में छिपा वैराग्य बीज देशनारूपी जल के सिंचन से हरा हो गया। उसने भगवान से प्रार्थना की—

"प्रभो! मुझे अपनी शरण में लीजिए। मैं अमरता खोजना चाहता हूँ।"

प्रभु ने कहा—

"देवानुप्रिय! तुम्हें जो अच्छा लगे सो करो, पर धर्म-कार्य में विलम्ब मत करो।"

संयम ग्रहण करने की अनुमति लेने के लिए थावच्चापुत्र अपनी माँ थावच्चा के पास आया और कहा—

"माँ! मुझे संयम की आज्ञा दे दो। अब मैं मृत्यु को जीतूंगा।"

थावच्चा ने महाव्रतों की कठोरता दिखाते हुए अपने पुत्र से कहा—

"पुत्र! बड़े-बड़े महारथी भी संयम का पालन नहीं कर पाते। तू तो सुखों में पला है, परम सुकुमार है। तू महाव्रतों का पालन नहीं कर पायेगा।"

भगवान नेमिनाथ ने थावच्चापुत्र के साथ सबको दीक्षा दी। अमरता के खोजी सभी साधकों ने भगवान के साथ अन्यत्र विहार किया।

× × ×

महामुनि थावच्चापुत्र एक हजार श्रमणों के साथ विहार करते हुए जगत कल्याण करने लगे। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर अनेकों ने संयम लिया, और अनेकों ने श्रावकव्रत धारण किये। ऐसे संयम धारक लोगों में मुनि थावच्चापुत्र के सुशिष्य मुनि शुक तथा प्रशिष्य मुनि सेलक अग्रणी थे।

अमरता के खोजी मृत्युंजयी मुनि थावच्चापुत्र ने अपना लक्ष्य प्राप्त कर ही लिया। अनशन करके पुण्डरीक गिरि पर मुनि थावच्चापुत्र ने मोक्ष पद प्राप्त किया और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो गए। उनके पूर्वोक्त दोनों शिष्य-प्रशिष्य ने भी उनके साथ ही अमर पद प्राप्त किया।

[ज्ञातासूत्र, तथा थावच्चापुत्र रास]

६ | लघुता-गुरुता का रहस्य

तत्त्वचिन्तन करते-करते गणधर गौतम स्वामी के मन में अनेक प्रश्न और अनेक शंकाएँ उठा करती थीं। भगवान महावीर के अतिरिक्त और ऐसा था भी कौन जो उनकी शंकाओं का सम्यक्-समाधान कर पाता? गौतम स्वामी पूछते और भगवान युक्तियुक्त ढंग से—जीते-जागते उदाहरण देकर सब कुछ समझा देते। गौतम स्वामी तो सन्तुष्ट व प्रसन्न हो ही जाते, अन्य साधु-श्रमण तथा श्रावक भी लाभान्वित हुए बिना नहीं रहते।

एक बार श्रमण भगवान महावीर राजगृह के बाहर गुणशीलक उद्यान में ठहरे। तत्त्वान्वेषी गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा—

"प्रभो! जीव की गुरुता-लघुता का रहस्य क्या है? आत्मा क्योंकर भारी होती है और क्योंकर हल्की?"

भगवान ने जगत के जीते-जागते उदाहरण को पकड़ा और गौतम स्वामी को बताने लगे। प्रभु ने पूछा—

"गौतम! तूंबी पानी पर तैरती है या डूब जाती है?"

गौतम ने बताया—

"प्रभो! तूंबी का तो स्वभाव ही तैरने का होता है। वह भला क्यों डूबेगी? तूंबी तो हल्की होती है न?"

प्रभु ने कहा—

"गौतम! तुम ठीक कहते हो। लेकिन तूंबी को भारी भी किया जा सकता है। एक व्यक्ति ऐसा करता है कि तूंबी पर दर्भ-घास लपेट कर ऊपर से मिट्टी का लेप चढ़ा देता है और उसे फिर धूप में सुखाे

रख देता है। लेप सूखने पर वह व्यक्ति फिर दूसरी बार ऐसा लेप करके सुखाता है। ऐसा वह बार-बार करता है और इसी प्रकार तूंबी पर आठ लेप चढ़ा देता है। हल्की तूंबी भारी हो जाती है।

"गौतम ! अब यदि उस तूंबी को जल धारा में छोड़ा जाए तो क्या होगा ?"

गौतम ने कहा—

"प्रभो ! फिर तो वह डूबेगी ही। भारी चीज तो डूबती ही है। तूंबी भी पानी की निचली सतह तक पहुँच जायगी।"

प्रभु ने कहा—

"गौतम ! आत्मा की गुरुता का भी यही रहस्य है। आत्मा स्वभाव से हल्की होती है। जीव अठारह प्रकार के पाप-कर्म करके आठ कर्म-प्रकृतियों का अर्जन करता है और स्वयं को भारी बना लेता है। पापों के लेप से गुरु बनी आत्मा डूब जाती है—नीचे अधोलोक—नरक में पहुँच जाती है।"

गौतम के मुख पर समाधान-संतुष्टि की झलक थी। गुरुता का रहस्य वे जान चुके थे। भगवान ने अब लघुता का रहस्य बताया—

"गौतम ! वही भारी तूंबी पुनः हल्की भी हो सकती है। क्योंकि स्वभाव से वह हल्की है। प्रयत्न-पुरुषार्थ से मूल स्वभाव को पुनः प्राप्त करना कठिन तो है, पर असंभव नहीं।

"गौतम ! धीरे-धीरे तूंबी के आठों लेप उतार दो। तूंबी पुनः हल्की हो जायगी। क्या निर्लेप तूम्बी भी डूबेगी ?"

गौतम ने प्रसन्न होकर कहा—

"प्रभो ! अब तो लघुता का रहस्य भी स्पष्ट हो गया। तूंबी पुनः ऊपर उठ आयेगी और पूर्ववत् पानी पर तैरने लगेगी।"

"हाँ गौतम !" प्रभु बोले—

"गौतम ! जीव जब संयम-साधना और धर्माराधना से पाप-कर्मों

का क्षय करता है तो वह लघुत्व को प्राप्त कर लेता है, फिर स्वभाव से ही नीचे से ऊपर उठ आता है और क्रमशः वह लोकाग्र में स्थित हो जाता है।"

"सत्य है प्रभो !" गौतम स्वामी ने कहा।

गुरुता-लघुता का रहस्य जानकर श्रमणों ने अपने मन को टटोला और साधना में स्थिरता ले आये। गणधर गौतम और भगवान महावीर के ये प्रश्नोत्तर बड़े ही कल्याणकारी सिद्ध हुए हैं।

[ज्ञातासूत्र ६]

बढ़ाते चलो ! | ७

राजगृह का श्रेष्ठी धन्ना धनवान और समृद्ध तो था ही, सूझ-बूझ का धनी और बुद्धिमान भी था। उसकी दोनों मुट्ठियाँ भरी हुई थीं। एक में विपुल सम्पत्ति और दूसरी में भरा-पूरा परिवार। उसकी पत्नी भद्रा भी बहुत सुशील और पतिव्रता नारी थी। श्रेष्ठी धन्ना के चार पुत्र थे—धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। चारों ही व्यापार-चतुर और विद्यावान थे। धन्ना के जीवन-काल में उसके पुत्रों ने व्यापार सम्हाल लिया था। धन्ना प्रसन्न था, क्योंकि उसके पुत्र होनहार थे। उसने चारों का विवाह भी कर दिया था। क्रमशः चारों पुत्र-वधुओं के नाम थे—उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी। बहुओं ने घर का काम सम्हाल लिया था, इसलिए सेठानी भद्रा का बोझ भी हल्का हो गया था। सेठ-सेठानी चैन की बंसी बजाते थे।

एक बार सेठ धन्ना की रात में सोये-सोये आँख खुल गई। काफी देर तक करवटें बदलीं, पर नींद नहीं आई। नींद नहीं आयी तो विचार आने लगे। सेठ ने सोचा—'स्त्री घर की लक्ष्मी होती है। पुरुष कितना ही कमाये, अगर गृहलक्ष्मी चतुर है, संवर्धन करना जानती है और रक्षण में कुशल है तो लक्ष्मी टिकेगी। चारों पुत्र खूब धन कमाते हैं। न भी कमायें तो भी कमी नहीं। धन तो बहुत है। पर देखना यह है कि मेरी चारों पुत्रवधुओं में इतनी योग्य कौन है, जो गृहस्वामिनी का पद सम्हाल ले और कौन ऐसी है जो धन की रक्षा करे। कल चारों को कसौटी पर कसूं और फिर जो जैसी हो,

उसको उसका दायित्व सौंप दूं। पता नहीं, काल का बुलावा कब आ जाए। इसलिए अपने जीते जी दायित्व का बँटवारा करता जाऊं। इसी उधेड़-बुन में सवेरा हो गया और सेठ अपने काम में लग गया।

सेठ धन्ना ने अपने कुटुम्बी, मित्र, सम्बन्धी तथा शुभचिन्तकों को प्रीतिभोज का निमंत्रण दिया। यथासमय सब इकट्ठे हुए और प्रीति-भोज के बाद सबकी बैठक जमी। सेठ ने अपनी बहुओं को बुलाया। श्वसुर के चरण छूकर चारों बहुएं एक ओर खड़ी हो गईं और आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगीं। धन्ना ने चारों को धान के पाँच-पाँच दाने दिये और कहा—

"बहुओ ! ये धान के दाने सम्हाल कर रखना और जब मैं मांगूँ, तब दे देना।"

समारोह में एकत्रित व्यक्तियों की समझ में कुछ नहीं आया। न किसी ने पूछा और न सेठ ने किसी को कुछ बताया। धान के दाने लेकर बहुएं अपने-अपने कक्षों में पहुँचीं और विचार किया। बड़ी बहू उज्झिका तो सोचते-सोचते हँस पड़ी। मन-ही-मन बोली—'सुसरजी सठिया गये हैं। भला, इन पाँच धानों को सम्हाल कर रखने की क्या जरूरत है ? क्या धानों का अकाल पड़ा है ? हजारों मन धान भरा पड़ा है। जब माँगेंगे, तब कोठार में से पाँच दाने दे दूँगी। धान सब एक-से। क्या फर्क पड़ता है ?' यह सोच बड़ी बहू उज्झिका ने दाने फेंक दिये।

दूसरी पुत्रवधू भोगवती ने सोचा—'हमारे घर धान की क्या कमी है ? श्वसुरजी जब माँगेंगे, तब पाँच क्या पाँच हजार दाने दे दूँगी। इन्हीं को सम्हालकर रखने की क्या तुक है ? लेकिन जब इतने बड़े समारोह के साथ ये दाने दिये हैं तो उन्हें फेंकना सुसरजी की भावना का असम्मान होगा। अतः इन्हें पूज्य प्रसाद समझकर खा लेना चाहिए।' यह सोच द्वितीय वधू भोगवती ने पाँचों दानों को छीला और उनके चावल खा गई।

तीसरी वहू थी रक्षिका। उसने सोचा—'अगर कोई विशेष बात न होती तो इतने लोगों के सामने बुद्धिमान श्वसुरजी ये दाने न देते। कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य है। होगी कोई बात। मुझे इससे क्या मतलव ? लेकिन जब पूज्य श्वसुरजी ने कहा है तो उनकी आज्ञा और भावना का आदर करना चाहिए। इन्हें सम्हाल कर रख दूँ, ताकि जब माँगें, तब दे दूँ।' यह सोच तीसरी वहू रक्षिका ने धान के पाँचों दाने अपनी रत्न-पेटी में सम्हाल कर रख दिये, मखमल के कपड़े में बाँधकर।

चौथी वहू रोहिणी कुछ और ही सोच रही थी। उसने सोचा—'श्वसुरजी ने कुछ सोचकर ही धान के दाने दिये हैं। ज्यों-के-त्यों लौटाने में तो कोई खास बात नहीं। अगर श्वसुरजी का यही अर्थ होता कि पाँच-पाँच दाने हम चारों उन्हें लौटा दें तो वे हमें देते ही क्यों ? फिर तो वे स्वयं ही कोठार में से बीस दाने चाहे जब ले लेते। बात तो तब है, जब पाँच के पाँच-पचास गाड़ी भरकर दाने दिये जाएँ। बड़ों की बात का रहस्य भी तो कुछ है ?'

रोहिणी ने अपने पाँचों दाने अपने पिता के पास भिजवा दिये और साथ ही पिता के लिए यह सन्देश भी भिजवाया—इन पाँच दानों को अलग क्यारी में बोना। फिर जब ये तैयार हो जायें तो बढ़े हुए धानों को उसी तरह अलग बो देना। इसी क्रम से अलग खेत में बोते रहना और अलग ही इकट्ठे करते रहना।

धीरे-धीरे चार वर्ष बीत गए। पाँचवाँ वर्ष भी बीतने को था। श्रेष्ठी धन्ना को अपने दानों की—दानों के बहाने बहुओं की कसौटी की याद आई। उसने पुनः उसी तरह समारोह किया। इष्ट-मित्र, सगे-सम्बन्धी एक बार फिर इकट्ठे हुए। उन सबके बीच धन्ना ने चारों बहुओं को बुलाया। बहुएँ आकर बैठ गईं। सेठ ने बड़ी बहू उज्झिका से पाँच दाने माँगे। उज्झिका ने कोठार में से निकाल कर पाँच दाने दे दिये।

सेठ ने पूछा—

"बड़ी बहू ! सच-सच बताना, क्या ये वही दाने हैं, जो मैंने दिये थे।"

उज्झिका ने बताया—

"पिताजी ! वे दाने तो मैंने फेंक दिये थे। ये कोठार से लाई हूँ।"

पाँच दाने भोगवती ने भी दिये और सही बात बताई—

"आपका प्रसाद समझ कर वे दाने मैंने तभी खा लिये थे। मैंने भी ये दाने कोठार से लाकर दिये हैं।"

तीसरी बहू रक्षिका ने अपनी रत्नमंजूषा खोली और मखमली कपड़े में लिपटे पाँचों दाने धन्ना श्रेष्ठी को देते हुए कहा—

"पिताजी ! जो दाने आपने दिये थे, वे मैंने सम्हाल कर रख दिये थे। ये वही दाने हैं।"

अब चौथी बहू रोहिणी की बारी थी। रोहिणी ने कहा—

"पिताजी ! आपके दिये हुए धान के दाने सुरक्षित हैं। लेकिन उनका इतना विस्तार हो गया है कि मैं अकेली नहीं ला सकती। उनके लिए आप गाड़ियाँ भेजिए और कुछ नौकर-चाकर भी, तभी आयेंगे।"

इस अटपटी बात को सुनकर सभी हैरान थे। सेठ मुग्ध और प्रसन्न था। उसने पूछा—

"सयानी बहू ! ऐसी क्या बात है कि पाँच दानों के लिए गाड़ियाँ चाहिए।"

रोहिणी ने पूरी बात बताई—

"पिताजी ! पहली बार पाँच के सैकड़ों हुए। फिर होते-होते पाँच साल में गाड़ियों हो गये। मैंने उनकी अलग से खेती कराई थी।"

अब तो सभी प्रसन्न थे। सेठ ने आगन्तुकों से कहा—

"देखा आपने मेरी बहुओं को ? अब इसी कसौटी के अनुसार मैं चारों के गृह-दायित्व का बँटवारा करता हूँ। छोटी बहू रोहिणी इस

घर की स्वामिनी है। उसी के संचालन में घर की व्यवस्था रहेगी। गृहलक्ष्मी का सवर्धन करने में रोहिणी ही समर्थ है।

"तीसरी वहू रक्षिका संरक्षण में कुशल है। चीज की हिफाजत करना वह जानती है। अतः घर की चल-अचल सम्पत्ति की रक्षा का दायित्व मैं उस पर छोड़ता हूँ। नाम से भी वह रक्षिका है।

"दूसरी वहू भोगवती, खाने में चतुर है। भोजन व्यवस्था उसके जिम्मे है। अच्छा खाना और खिलाना उसका काम रहेगा।

"सबसे बड़ी बहू उज्झिका फेंकने की कला में दक्ष है। घर का कूड़ा फेंकना उसका काम रहा। घर की सफाई में उसे सौंपता हूँ।"

सेठ की इस नई सूझ-बूझ और दायित्व कसौटी को देखकर आगन्तुक जन प्रसन्न व मुग्ध थे। सबने धन्ना श्रेष्ठी की सूझ-बूझ की प्रशंसा की और अपने-अपने घर चले गये। सेठ की गृह-व्यवस्था नये ढंग से चलने लगी।

जीवन में गृहीत व्रतों को, सत्य-शील आदि महान नियमों को जो सदा बढ़ाता रहता है, अपने आत्म-वैभव का विस्तार करता रहता है वही व्यक्ति सर्वत्र सम्माननीय और बुद्धिमान माना जाता है।

[ज्ञातासूत्र ७]

८ | जिनपाल और जिनरक्ष

पुराने समय की बात है, चम्पानगरी में एक-से-एक बढ़कर श्रेष्ठी-व्यापारी रहते थे। इन सब में श्रेष्ठी माकन्दी की बात ही कुछ और थी। यों धन-सम्पत्ति में उसकी बराबरी के लोग भी थे, पर श्रेष्ठी माकन्दी के पुत्रद्वय जिनपाल और जिनरक्ष ने ग्यारह बार लवणसमुद्र की यात्रा करके एक कीर्तिमान स्थापित कर लिया था, जबकि चम्पा के दूसरे किसी व्यापारी ने एक बार भी लवण-समुद्र की यात्रा नहीं की थी। लवण-समुद्र की यात्रा करना कोई हँसी-खेल नहीं था। साहसी, बुद्धिमान और भाग्यशाली जिनपाल और जिनरक्ष ही यह कठिन कार्य कर सकते थे।

सफलता पर सफलता मिलती चले तो उत्साह बढ़ता ही जाता है। ग्यारह बार की यात्रा करके श्रेष्ठी माकन्दी के पुत्रों ने विपुल धन कमाया था; इतना कि कई पीढ़ियों तक कमाने की कोई चिन्ता नहीं रही। लेकिन लोभ का कभी अन्त नहीं होता। लोभ का मुँह सुरसा के मुँह की तरह बढ़ता जाता है। यदि विवेकपूर्वक लोभ पर काबू न पाया जाए तो लोभी की बड़ी दुर्गति होती है। ग्यारह बार की लवण-समुद्र यात्रा ने श्रेष्ठी के दोनों पुत्रों की धनलिप्सा को इतना बढ़ा दिया कि वह रुकने का नाम ही नहीं लेती थी। अतः जिनपाल और जिनरक्ष ने बारहवीं बार लवणसमुद्र पार करके धन कमाने की तैयारी शुरू कर दी।

सेठ माकन्दी समझदार था। उसने अपने पुत्रों को समझाया—

"पुत्रो! अति बहुत बुरी होती है। किसी भी चीज की अति अच्छी नहीं। अति का साहस दुस्साहस हो जाता है और

दुस्साहस प्राणलेवा होता है। ग्यारह वार वहुत होते हैं। अव मैं तुम्हें वारहवीं वार लवणसमुद्र-यात्रा की अनुमति नहीं दूंगा। क्या करोगे, इतना धन लाकर ? काफी तो है।"

श्रेष्ठिपुत्र लोभ के वशीभूत थे, अतः उन्होंने पिता की वात नहीं मानी और जहाजों में माल लादकर लवणसमुद्र की यात्रा पर चल दिये। कुछ दिन तक सव अनुकूल रहा। यात्रा निर्विघ्न रही। लेकिन कुछ ही दिनों वाद भयंकर तूफान उठा। घनघोर वर्षा, घटाटोप घुप्प अँधेरा और झंझावात। जहाज डगमगाने लगे। ऊँची-ऊँची लहरों ने जहाजों को पानी में डुवा दिया। यात्री और सामान—सव सागर के गर्भ में समा गए, किन्तु किसी तरह जिनपाल और जिनरक्ष के हाथों में लकड़ी का तख्ता आ गया। वे दोनों उस पर तैर कर किसी तरह किनारा पाने की कोशिश करने लगे।

लवणसमुद्र के पार अनेकों द्वीप थे। ये दोनों भाई रत्नद्वीप के किनारे पहुँच गए। तटवर्ती वन के फल खाकर भूख शान्त की तो शरीर में कुछ शक्ति आई। जव वे कुछ आगे जाने लगे तो उनके सामने एक परम रूपवती स्त्री प्रकट हुई। स्त्री ने उन्हें अपने वश में करने का प्रयास करते हुए दिखावटी रोष में कहा—

"मनुष्यो ! मैं इस द्वीप की रत्ना नामक देवी हूँ। तुम दोनों ने मेरे द्वीप में प्रवेश किया है, अतः मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ सकती। मरने के लिए तैयार हो जाओ।"

दोनों भाइयों ने एक-दूसरे की ओर देखा, मानो कह रहे हों, समुद्र में डूवने से वचे तो यह मौत वनकर आ गई। फिर दोनों ने एक साथ उस देवी से कहा—

"देवी ! हमने तुम्हारा विगाड़ा ही क्या है ? जो तुम हमें मारना चाहती हो ? हमें मारकर तुम्हें क्या मिलेगा ? आज्ञा करो, हम तुम्हारे सेवक हैं।"

देवी रत्ना शान्त हो गई और पुनः वोली—

"पुरुषो! मैं भला तुम्हें क्यों मारने लगी ? यह तो तुम्हारी परीक्षा

थी। आओ, मेरे साथ चलो। मेरे साथ महलों में रहो। सब सुखों का भोग करो। मुझे तो बस तुम्हारे भोग का सुख चाहिए। लेकिन याद रखना, अगर कभी मुझे धोखा देने की कोशिश की तो तत्काल तुम्हारे सिरों के टुकड़े कर दूंगी। मुझसे कोई बात तुम छिपा नहीं सकते।"

मरता क्या न करता? दोनों भाई देवी के साथ उसके महल को चले गए। कुछ दिन तक तो नया-नया लगा, यह जीवन। फिर भोगों में सब भूल गए। रत्ना दोनों को बाहुपाश में लिये पड़ी रहती। बार-बार के भोग से उसकी भोगेच्छा बढ़ती ही जाती और ये दोनों भाई इस अतिशय भोग से ऊबने लगे। लेकिन करते भी क्या? जीवन भर अब तो इसी भोग-कारा में रहना था। सो दोनों चाहे-अनचाहे रह रहे थे।

एक बार देवराज इन्द्र के आदेश से सुस्थित नामक देव ने रत्ना देवी को लवणसमुद्र की सफाई-स्वच्छता का आदेश दिया। इन्द्र की आज्ञा की अवहेलना देवी कर नहीं सकती थी, उसे जाना जरूरी था। साथ ही, जिनपाल और जिनरक्ष की ओर से खटका भी था। लेकिन उसकी पहुँच भी दूर-दूर तक थी, फिर भी अपनी अनुपस्थिति का भय उसे कचोट रहा था। लेकिन अपना भय उसने प्रकट नहीं होने दिया और बड़ी अदा के साथ श्रेष्ठिपुत्रों से बोली—

"मुझे तो कुछ दिनों के लिए बाहर जाना है। तुम यहाँ आराम से रहना। जल्दी ही लौट आऊँगी। वैसे तो यहाँ सब सुख-सामग्री है, फिर भी यदि मन न लगे तो इस द्वीप के वन-खण्डों में घूम आना। पूर्व दिशा के वन-खण्ड में सदा वसन्त ऋतु रहती है। पश्चिम के वन में शरद् ऋतु का आनन्द लेना। उत्तर के वन में भी विहार करना। लेकिन भूल कर भी दक्षिण दिशा के वन में मत जाना। वहाँ एक भयंकर सर्प रहता है। उसकी फुंकार से ही मृत्यु हो जाती है।"

चलते-चलते देवी ने एक बार पुनः सावधान किया—

"याद रखना, दक्षिण दिशा के वन में मत जाना।"

देवी चली गई। दोनों भाइयों ने चैन की साँस ली। कुछ दि-

कर तुम्हें पीठ पर बैठाकर उड़ूँगा। निश्चय ही देवी तुम्हारा पीछा करेगी और तुम से पीछे मुड़कर देखने को कहेगी। अनेक प्रकार के मधुर वचन बोलेगी, भय भी दिखायेगी अगर तुमने पीछे देखा तो मैं वहीं पटक दूंगा और अगर पक्के बने रहे तो पार हो जाओगे।"

दोनों ने निश्चय किया—पक्के रहेंगे। यक्ष घोड़ा बन गया। जिनपाल और जिनरक्ष सवार हो गए। घोड़ा समुद्र के ऊपर उड़ने लगा।

इधर देवी लौटी। जिनपाल-जिनरक्ष वहाँ नहीं मिले। उसे तुरन्त पता चल गया—चिड़ियाँ जाल से छूट गई हैं। अवधिज्ञान से देखा तो पता लग गया कि दोनों भागे जा रहे हैं। देवी ने अपनी शक्ति को बटोरा और पीछे-पीछे उड़ चली। पहले तो देवी ने डराया-धमकाया और कहा—

"अगर पीछे नहीं देखोगे तो मैं मार दूँगी।" पर उसकी धम-कियाँ व्यर्थ गईं। अब उसने सम्मोहन का प्रयोग किया। मीठी वाणी में बोली—"मेरे सर्वस्व! पीछे देखो, एक बार देखो। तुम्हारे बिना मैं कैसे रह पाऊँगी? तुम्हीं तो मेरे जीवन-आधार हो, मुझे छोड़कर मत जाओ।"

किसी ने पीछे नहीं देखा। देवी ने अवधिज्ञान के प्रयोग से जाना कि जिनपाल तो पक्का है। यह मुड़कर नहीं देखेगा, पर जिनरक्ष का मन भोगों में अब भी आसक्त है। उसका मन विचलित हो रहा है। अतः वह जिनरक्ष से ही बोली—

"प्यारे जिनरक्ष! तुम तो समझदार हो। तुम्हारा भाई तो पत्थर दिल का है। क्या तुम भी मेरे प्यार को ठुकराओगे? तुम तो मेरे रोम-रोम में बसते हो। देखो, एक बार तो देखो।"

जिनरक्ष से नहीं रहा गया। उसने मुड़कर देखा कि देव-मर्यादा के अनुसार यक्ष ने उसको वहीं पटक दिया। देवी उस पर झपट पड़ी और नंगी तलवार हाथ में लेकर बोली—

"भोग के कीड़े ! अब अपनी करनी का फल भोग।"

यह कहकर देवी ने आकाश से गिरते हुए जिनरक्ष को तलवार की नोंक पर झेल लिया और फिर उसके वक्ष में तलवार भोंक दी। उसके प्राण पखेरू उड़ गए। जिनपाल सकुशल चम्पानगरी आ गया।

× × ×

जिनपाल और जिनरक्ष की मनोवृत्ति के लोग आज भी इस संसार में हैं। जिनपाल की वृत्ति वाले भोगों की असारता जानते हैं और वे पार हो जाते हैं। इसके विपरीत जिनरक्ष की वृत्ति के लोग आज भी भोगों के दलदल में फंसे रहकर विनाश को प्राप्त होते हैं।

[ज्ञातासूत्र ९]

चन्द्रमा के दो रूप | ९

मगध देश की राजधानी राजगृह बहुत पुण्यशील थी। भगवान महावीर ने चौदह चातुर्मास यहाँ विताये थे। मगधराज श्रेणिक धर्मनिष्ठ थे और उनकी प्रजा भी धर्मानुरागिनी थी—यथाराजा तथाप्रजा। जब भी भगवान महावीर यहाँ पधारते राजपरिवार और जनसमूह गुणशीलक उद्यान की ओर उमड़ चलता, प्रभु दर्शन के लिए। ऐसा उत्साह किसी त्योहार के दिन भी देखने को न मिलता। क्या स्त्री, क्या पुरुष—आबालवृद्ध सभी का हृदय उत्साह से द्विगुणित हो जाता।

एक बार भगवान महावीर नगर के बाहर राजोद्यान गुणशीलक में पधारे। अनेक श्रमण-साधुओं के साथ प्रमुख गणधर गौतम स्वामी भी वीर प्रभु के साथ थे। पूरा राजगृह मानो उद्यान में बस गया था। पक्षियों ने भी चहचहाना छोड़ दिया था, मानो प्रभु की देशना सुन वे भी लाभान्वित होना चाहते हों। प्रभु ने अपनी वाणी द्वारा अमृत बरसाया। पीने वालों ने खूब पिया और तृप्त होकर घर लौटे।

सभा की समाप्ति के बाद गौतम स्वामी ने प्रभु से प्रश्न किया—

"भगवन्! आत्मा का ह्रास और विकास क्यों और कैसे होता है?"

प्रभु ने बताया—

"गौतम! महीने में दो बार तुम चन्द्रमा के ह्रास और विकास को देखते हो। इसी रूपक से आत्मा का ह्रास और विकास भी समझो।"

गौतम स्वामी एकाग्र होकर सुनने लगे। प्रभु ने चन्द्र रूपक का स्पष्टीकरण किया—

"गौतम! राकाचन्द्र (पूर्णिमा के चन्द्रमा) के बाद कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा (पड़वा) का चन्द्र राकाचन्द्र से सब विशेषताओं और गुणों में हीन होता है। द्वितीया का उससे भी हीन। इस तरह रात्रि-प्रति-रात्रि हीन से हीनतर होते-होते अमावस्या को हीनतम, अर्थात् पूर्णतः नष्ट हो जाता है।

"कृष्ण प्रतिपदा से लेकर अमावस्या तक जिन गुणों का ह्रास या हीनत्व होता है, वे गुण हैं—वर्ण (शुक्लता), सौम्यता, स्निग्धता (अरूक्षता), कान्ति (मनोहरता), दीप्ति (चमक), युक्ति (आकाश के साथ संयोग), छाया (प्रतिविम्ब), प्रभा (उदयकाल में कान्ति की स्फुरणा), ओजस (दाह शमन करने की सामर्थ्य), लेश्या (किरण रूप लेश्या) और मण्डल (गोलाई)।

"गौतम! चन्द्र-गुणों के ह्रास की स्थिति समझ गए न?"

"हाँ भगवन्! यह तो स्पष्ट ही है।" गौतम स्वामी ने संतोष व्यक्त किया। वीर प्रभु ने अब श्रमण-साधक के पक्ष में इस चन्द्र रूपक को स्पष्ट करके बताया—

"गौतम! इसी तरह साधु अथवा साध्वी क्षान्ति-क्षमा, मुक्ति (निर्लोभ), आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—इन दस मुनि-धर्मों से हीन होता है, और हीन से हीन-तर होता हुआ अमाचन्द्र की तरह पूर्ण ह्रास को प्राप्त होता है।"

गौतम स्वामी ने संतोष व्यक्त किया और दूसरे पक्ष—विकास को जानने के लिए उत्सुक दृष्टि से देखा। भगवान महावीर ने अब राकाचन्द्र (पूर्णचन्द्र) का रूपक बताया—

"गौतम! शुक्ल प्रतिपदा से चन्द्र का विकास शुरू होता है और रात्रि-प्रति-रात्रि होते-होते राका-रजनी (पूर्णिमा की रात्रि) को पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है, अपने सभी गुणों से युक्त हो जाता है।

"गौतम ! इसी तरह श्रमण-साधक मुनिधर्मों का विकास करता है और करते-करते पूर्ण विकास को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। फिर वह पूर्ण चन्द्र की तरह शोभा को प्राप्त होता है।

"गौतम ! साधु और चन्द्र का एक ही रूप है। जिस तरह राहु चन्द्र का शत्रु है, उसी तरह प्रमाद साधक का शत्रु है। विकास-ह्रास का यही रूपक और रूप है।"

[ज्ञातासूत्र १०]

१० आराधक और विराधक ?

राजगृह से बाहर था राजोद्यान गुणशीलक। इसकी शोभा ही निराली थी। यह उद्यान हर ऋतु में खिलने वाले पचवर्णी पुष्पों से शोभित था। पक्षियों की चहचहाहट और मधुलोभी भौंरों की गुन-गुन करती गुंजार उद्यान की शान्ति और नीरवता का आभास देती थी। राजोद्यान गुणशीलक की सघन पत्रावलियाँ ऐसी मालूम पड़ती थीं, मानों आकाश में श्याम घटाएँ घिरी हों। अँधेरी रात में इन पेड़ों को देखकर ऐसा लगता था, मानों बचा-खुचा अंधकार इन वृक्षों के पत्र-समूह में एकत्र हो गया है अथवा ये वृक्ष अंधकार की गठरी सिर पर लादे खड़े हैं।

इसी गुणशीलक उद्यान में एक बार भगवान महावीर का पदार्पण हुआ। इससे पहले भी वे राजगृह की जनता को कृतार्थ करने अनेक बार आ चुके थे। राजगृह के अधिकांश निवासी—नर-नारी भगवान महावीर के भक्त और धर्मानुरागी थे। जब कभी भगवान महावीर गुणशीलक उद्यान में पधारते तो खबर पाते ही राजगृह की जनता उनके दर्शन करने दौड़ पड़ती जैसे कि वर्षा ऋतु में सरिता का प्रवाह सागर की ओर बढ़ता चला जाता है। भगवान के भक्त श्रावक-श्राविकायें धर्म-श्रवण करके अपना जीवन सफल करते थे।

इस बार भी जब भगवान पधारे तो भक्त जनता और भक्त राजा श्रेणिक भगवान के दर्शनों को पहुँचे। भगवान की धर्म-परिषद् खचाखच भरी हुई थी। सबने प्रभु की अमृतवाणी सुनी और अपने को धन्य किया। प्रवचन के बाद जिज्ञासुजन अपने-अपने प्रश्नों का समा-

धान भी करते थे, और प्रभु सबको सन्तुष्ट करते थे। इसी क्रम में भगवान के प्रमुख शिष्य गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—

"भगवन् ! जीव किस प्रकार आराधक अथवा विराधक होते हैं ?"

भगवान ने बताया—

"गौतम ! साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं—सभी के दुर्वचन समभाव से सहन करने वाला क्षमाशील साधु ही आराधक होता है। इसके विपरीत आचरण वाला श्रमण विराधक होता है। क्षमाभाव ही मोक्ष लक्ष्य को प्राप्त कराता है। गौतम ! तुम्हारे प्रश्न का मूल निचोड़ तो यही है। अब मैं एक उदाहरण से यह समझाता हूँ कि जीव आराधक अथवा विराधक कैसे होता है।"

कुछ देर मौन रहने के बाद प्रभु ने पुनः कहा—

"गौतम ! समुद्र के किनारे खड़े रहने वाले दावद्रव नामक वृक्ष तो तुमने देखे ही हैं ?"

"हाँ, देखे हैं भगवन् !" गौतम स्वामी ने कहा।

प्रभु पुनः बोले—

"ये दावद्रव नामक वृक्ष श्यामवर्णी पत्तों वाले, गुच्छा रूप होते हैं। फल-फूल और सघन पत्तों के कारण बड़े अच्छे लगते हैं। इन वृक्षों को चार प्रकार की वायु प्रभावित करती है—पूर्व दिशा से बहने वाली द्वीप की वायु, जो कुछ आर्द्र होती है। पश्चिमी समुद्री हवा, जो वनस्पति के लिए हितकारी होती है, तथा मंदवायु और महावात, अर्थात् प्रचण्ड वायु अथवा आँधी। इनमें से कुछ पवन-थपेड़ों को तो वह सह जाता है, पर कुछ पवनों के प्रभाव से दावद्रव नामी वृक्ष जीर्ण हो जाते हैं। उनके पत्ते झड़ जाते हैं और ये वृक्ष पीले पत्तों वाले हो जाते हैं—सूख भी जाते हैं।

"गौतम ! इसी तरह जो साधु बहुत-से साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं के दुर्वचनों को तो सहन करता है और बहुत-से तीर्थिकों

तथा श्रावकों के दुर्वचनों को सहन नहीं कर पाता, ऐसा साधु देश-विराधक होता है।

"गौतम ! इन सभी पवनों के प्रभाव से दावद्रव नामक कुछ वृक्ष जीर्ण होते तथा मुरझाते हैं, किन्तु कुछ ज्यों-के-त्यों हरे-भरे खड़े रहते हैं। इसी रूपक से जो साधु अथवा साध्वी बहुत-से श्रावकों के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन करता है और बहुत-से श्रावकों का नहीं करता, वह देशाराधक होता है।

"जब वायु प्रवाहित नहीं होती, तब भी समुद्र के किनारे खड़े दावद्रव वृक्ष मुरझा जाते हैं, सूख जाते हैं। इसी प्रकार जो श्रमण श्रावक-श्राविकाओं आदि के दुर्वचनों को सम्यक् प्रकार से सहन नहीं करते, वे सर्वविराधक होते हैं।

"गौतम ! ऐसे भी दावद्रव वृक्ष होते हैं, जो सभी प्रकार के पवनों को सहन करके पूर्ववत् हरे-भरे, पत्रित, पुष्पित तथा फलित बने रहते हैं। इसी प्रकार जो श्रमण साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं आदि के दुर्वचनों को सम्यक् प्रकारेण सहन करता है, वह सर्वाराधक होता है।

"गौतम ! साधु दाववृक्ष के समान है। इस रूपक के अनुसार द्वीप की वायु के समान स्वपक्षी साधु के वचन हैं, समुद्री वायु के समान अन्यतीर्थिकों के वचन हैं, और दाववृक्ष के पुष्प-फल के समान मोक्ष-मार्ग की आराधना है। पुष्प-फल के नाश का प्रतीकार्थ मोक्ष-मार्ग की विराधना से ही है।

"जिस प्रकार विभिन्न पवनों के संसर्ग से वृक्षों की समृद्धि है उसी प्रकार साधर्मी साधु के दुर्वचन सहने से मोक्ष-मार्ग की आराधना और दुर्वचन न सहने से विराधना होती है। अन्यतीर्थिकों के दुर्वचन न सहने से मोक्ष-मार्ग की अल्प-विराधना होती है। समुद्री वायु से पुष्प आदि की थोड़ी समृद्धि और अधिक असमृद्धि होती है, उसी तरह स्वपक्षी साधु के दुर्वचन न सहने तथा पर-तीर्थिकों के दुर्वचन सहने"

बहुत विराधना तथा थोड़ी आराधना होती है। साथ ही, दोनों के दुर्वचन न सहने से विराधना तथा सहन करने से आराधना होती है।

"गौतम ! मूल बात वही है, जो मैंने सबसे पहले कही थी। क्रोध न करना अथवा क्षमा धारण करना ही साधु का सबसे बड़ा आधार है। क्षमा ही मोक्ष की कुंजी है।"

इतना कहकर भगवान मौन हो गए। गौतम स्वामी ने कहा—
"प्रभो ! आपने जो कहा, सब सत्य है। मैं कृतार्थ हो गया।

[ज्ञातासूत्र ११]

११ | समता की साधना

चम्पानगरी का राजा जितशत्रु यद्यपि मिथ्यात्वी नहीं था, पर तत्त्वज्ञ और धर्मनिष्ठ भी नहीं था। धर्म और तत्त्व-ज्ञान की ओर उसका झुकाव न होना, हठधर्मी नहीं; बल्कि अज्ञान और सरलता ही थी। यदि उसे कोई सद्‌गुरु मिल जाता तो उसके हृदय-प्रदेश में छिपा विवेक वीज अवश्य जाग्रत हो जाता।

राजा जितशत्रु का महामात्य सुबुद्धि अपने नाम के अनुसार बुद्धिमान, विचक्षण और तत्त्वज्ञ था। कम बोलना और करके दिखाना, उसका जीवन-मन्त्र था। राजा जितशत्रु मंत्री सुबुद्धि का वहुत आदर करता था। पेचीदी समस्याओं को सुलझाने में वह राजा का दाहिना हाथ था। यदि मंत्री कभी तत्त्व की वात कहता भी तो राजा हँसकर टाल देता और कहता—

"मंत्रिवर ! तुम तो हर वात में अपना शुष्क तत्त्व ही ढूंढ़ते हो।"

मंत्री भी राजा को अधिक समझाने की कोशिश न करता। इसी तरह काम चल रहा था। एक वार राजा ने अपने यहाँ सहभोज की व्यवस्था की। उसके इष्ट-मित्र, विभिन्न विभागों के मंत्री आदि उसके साथ भोजन करने बैठे। वहुत तरह के व्यंजन वने थे। वड़ा ही स्वादिष्ट भोजन वना था। सुस्वादु भोजन की प्रशंसा करते-करते लोग अघाते न थे। कुछ तो भोजन में ही अच्छाई थी और कुछ राजा को प्रसन्न करने के लिए भी लोग तारीफ के पुल वाँध रहे थे। ज्यादातर लोग इस वात के कायल थे कि 'स्वामी दिन को रात कहे तो हम तारे चमकायें।' लेकिन मंत्री सुबुद्धि इस वात का कायल नहीं था।

उसका सिद्धान्त था कि किसी को भला लगे या बुरा, ठकुरसुहाती कभी नहीं कहनी चाहिये। जो सच हो, उसे ही कहना चाहिए या फिर मौन रहना कहीं उत्तम है। यही कारण था कि मंत्री सुबुद्धि अभी तक मौन था।

मंत्री सुबुद्धि को मौन देख राजा जितशत्रु ने कहा—

"मंत्रिवर ! जब तक तुम अपनी राय पेश न करो, तब तक भोजन की प्रशंसा अधूरी ही है। क्या राय है, तुम्हारी ? है न आज का भोजन मजेदार बेमिसाल ?"

मंत्री को बोलना पड़ा। उसने कहा—

"राजन् ! इसमें कोई अनहोनी बात नहीं। मनुष्य के प्रयत्न और वस्तु के स्वभाव से अच्छी चीज बुरी और बुरी अच्छी हो जाती है। तत्त्व की बात तो यह है कि प्रयत्न तथा स्वभाव के कारण पौद्गलिक पदार्थों में परिणमन होता रहता है, और हमें उनमें समभाव रखना चाहिए, तटस्थ वृत्ति ही आनन्द स्रोत है।"

राजा को यह विचार अखर गया। कुछ रुखाई से बोला—

"मंत्री ! तुम हर समय तत्त्व की दुहाई ही देते रहते हो। समभाव तो मुनियों का भूषण है, नृपतियों का नहीं, फिर भोजन के आनन्द के बीच यहाँ वस्तु-परिणमन कहाँ से ले आये ? मोटी-सी बात यही है कि सोना, सोना ही रहता है और मिट्टी, मिट्टी बनी रहती है। सुगन्ध कभी दुर्गन्ध नहीं हो सकती और दुर्गन्ध सुगन्ध नहीं बन सकतीं।"

मंत्री ने बात आगे नहीं बढ़ाई। सहभोज समाप्त हो गया और सब अपने-अपने काम में लग गए।

कुछ दिन बीते। राजा-मंत्री अन्य सभासदों तथा अंगरक्षकों के साथ नगर से बाहर घूमने निकल गए। यहाँ एक खाई थी, जिसमें वर्षों से गन्दा पानी भरा हुआ था। बहुतेरे जीव-जानवर गिरकर मर गए थे। सड़ाँध से पानी में दुर्गन्ध उठ रही थी। इस दुर्गन्ध का अनुभव करके राजा ने अपने मंत्री से कहा—

"मंत्री ! आज हम लोग कहाँ आ गए ? दुर्गन्ध के मारे नाक फटी जाती है। वायु वेग से सड़ी गन्ध इधर ही आ रही है। बड़ा दुर्गन्ध पूर्ण पानी है, इस खाई का। चलो, यहाँ से शीघ्र चलें।"

मंत्री ने फिर वही तत्त्व की बात कही—

"एक दिन यही गन्दा पानी 'उदकरत्न' रहा होगा। वस्तु-परिणमन का ही कारण है कि अमृततुल्य जल-रत्न कितना दूषित हो गया। यही जल पुनः 'उदकरत्न' बन सकता है।"

राजा को फिर बुरा लगा। मंत्री से कहा—

"मंत्री ! ऐसा लगता है, तत्त्व की बात तुम्हें पागल बनाकर छोड़ेगी। भला यह गन्दा पानी कभी भी उपयोगी हो सकता है ? धन्य है, तुम्हारी बुद्धि को।"

मंत्री को भी कुछ अखर गया। उसने निश्चय किया—'अब तो कुछ करके ही दिखाना चाहिए। जब तक प्रमाण नहीं दिया जाए, तब तक राजा इसी तरह तत्त्वज्ञान का मजाक उड़ाता रहेगा।'

मंत्री सुबुद्धि ने खाई का गन्दा पानी अपने घर मँगवाया और शोधन-क्रिया द्वारा उसे पूर्ण निर्मल तथा शुद्ध कराया। निश्चित ही वह 'उदकरत्न' बन गया। मंत्री ने उसमें कुछ और भी सुगन्ध द्रव्य मिलाये तथा यही शुद्ध जल राजा के उपयोग के लिए भेजा। राजा को यह पानी बहुत स्वादिष्ट लगा। पानी पीने के बाद राजा जितशत्रु ने अपने जलाधिकारी से पूछा—

"आज यह पानी कहाँ से ले आये ? आज तक ऐसा पानी मैंने नहीं पिया। जल क्या है, अमृत है। अब तुम रोज यही पानी लाया करो।"

जलाधिकारी ने बताया—

"महाराज ! यह जल महामात्य सुबुद्धि ने आपके लिए भेजा है। पता नहीं, वे किस कुएँ से मँगवाते हैं।"

राजा ने मंत्री को बुलाया और कहा—

"मंत्री जी ! आप अकेले-अकेले ही यह उत्तम जल पी जाते हैं। अब तक हम से क्यों छिपाया ? कहाँ से मँगवाते हैं, यह 'उदकरत्न' ?"

मंत्री ने हँसकर कहा—

"महाराज इसमें भी तत्त्व की बात है। वही बात जो मैंने पहले कही थी। मनुष्य के प्रयत्न और वस्तु के स्वभाव से पुद्गल पदार्थों में परिणमन होता रहता है। उत्तम अधम और पतित पावन बन जाते हैं।

"महाराज ! यह उसी खाई का सड़ा पानी है, जिसकी दुर्गन्ध आपसे सहन नहीं हुई थी।"

राजा को विश्वास नहीं हुआ। मंत्री उसे अपनी जल-शोधशाला में ले गया और उसे खाई का गन्दा पानी दिखाया तथा क्रम-क्रम से उसकी शोधन-क्रिया एवं शोधित-जल दिखाया। राजा को अपने दुराग्रह और अज्ञान का भान हुआ। उसने मंत्री से क्षमा माँगी और कहा—

"मंत्रिवर ! तुम सचमुच सुबुद्धि हो। मुझे भी तत्त्वज्ञान बताओ। मेरे शून्य मन में भी कुछ भरो।"

मंत्री ने राजा को केवली-भाषित धर्मतत्त्व बताया—

"राजन् ! यह प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है कि अच्छे रूप से बुरे रूप में और बुरे रूप से अच्छे रूप में बदलती रहती है। इसे दर्शन की भाषा में—'पर्याय परिवर्तन' या 'पुद्गल-परिणमन' कहते हैं। इसी आधार पर हम सुख-दुख में, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में समभाव की उपलब्धि कर स्वस्थ तथा प्रसन्न रह सकते हैं, क्योंकि आज जो दुख के कारण हैं वे कल सुख के निमित्त बन सकते हैं और जो सुख के साधन हैं, वे कल दुख के कारण बन सकते हैं, फिर किस पर राग करें और किससे द्वेष ?..."

मंत्री सुबुद्धि की तत्त्वज्ञान भरी बात राजा की समझ में आ गई और वह भी समतामूलक जिनदर्शन का आराधक बन गया।

[ज्ञातासूत्र १२]

१२ | अन्तमति सो गति

मगध देश की राजधानी राजगृह का अपना एक इतिहास है—विशिष्ट इतिहास। अनेक चढ़ाव-उतार इस नगर ने देखे हैं। बड़े-बड़े धर्मवीर और न्यायप्रिय राजाओं ने यहाँ शासन किया है। यह कहानी उस युग की है, जब राजा श्रेणिक यहाँ राज्य करता था। और जन-जन का मंगल-कल्याण करते हुए विभिन्न जनपदों में विहार करते हुए भगवान महावीर यहाँ ठहरते थे।

राजगृह बहुत सुन्दर, रम्य और श्रीसम्पन्न नगर था। इस नगर में अनेक सेठ-साहूकार बसते थे। गरीब भी थे, क्योंकि धनी-निर्धन सापेक्ष अवस्था है और हर युग में गरीब-अमीर रहते हैं। फिर भी इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि राजगृह के लोग सुखी थे। नगर की वास्तु शोभा भी नयनाभिराम थी और प्रकृति-सुषमा भी दर्शनीय थी। राजगृह का गुणशीलक नामक राजोद्यान तो देखते ही बनता था। विस्तृत क्षेत्रफल, हरी दूब का फर्श, छायादार स-फल वृक्ष और मनोहर लता मण्डप। इसी गुणशीलक उद्यान में वीर प्रभु अपने शिष्यों और प्रमुख गणधर गौतम सहित अनेक बार पधारे थे।

इसी राजगृह में नन्द नाम का एक मणिकार[1] सेठ रहता था। नन्द मणिकार विपुल ऐश्वर्य का स्वामी था। ऐसा लगता था कि चंचला लक्ष्मी उसके यहाँ धरना देकर बैठ गई हो। एक बार भगवान

---

१. बहुमूल्य हार बनाने वाला या मणियों का व्यापारी।

महावीर राजगृह पधारे और गुणशीलक उद्यान में विराजमान हुए। अन्य लोगों के साथ मणिकार नन्द भी भगवान के समवसरण में पहुँचा। उसने वीर प्रभु की देशना सुनी और श्रावक के वारह व्रत ग्रहणकर श्रमणोपासक सम्यक्त्वी श्रावक वन गया।

वहुत दिनों तक नन्द मणिकार को सत्संग नहीं मिला। उसे किसी श्रमण-साधु के दर्शन नसीव नहीं हुए। पणिाम यह हुआ कि उसके मन से शुभ संस्कार उतरने लगे और धीरे-धीरे वह पूर्णतः मिथ्यात्वी हो गया। एक वार हाथ में लिये कार्य को यदि निरन्तर न किया जाए तो वह मनःपटल से उतर ही जाता है और उसका स्थान दूसरे संस्कार ले लेते हैं। यही वात नन्द के साथ भी हुई।

एक बार नन्द ने तेलाव्रत धारण किया। व्रत का अन्तिम दिन था। वह भूख-प्यास से व्याकुल हो गया। प्यास के कारण उसे व्रत पूरा करना बहुत कठिन लगा। राजगृह के वाहर अनेक रम्य और शीतल जलवाली पुष्करिणी तथा वापियाँ थीं। नन्दन के मानस-पटल पर पुष्करिणी व वापियों का चित्र घूमने लगा। प्यासे कण्ठ से उसने विचार किया—'राजगृह के वे सभी श्रेष्ठी धन्य हैं, जिन्होंने नगर के वाहर वावड़ियाँ, सरोवर और पुष्करिणयाँ वनवाई हैं। उनमें स्नान करके, उनका शीतल जल पीकर लोग कितने आनन्दित होते हैं। व्रत के पारणे के बाद मैं भी एक पुष्करिणी वनवाऊँगा—ऐसी पुष्करिणी जो अपनी शान की एक ही हो।'

यथासमय व्रत का पारणा करने के बाद अगले दिन मणिकार नन्द राजा श्रेणिक के पास पहुँचा और पुष्करिणी के निर्माण की अनुमति माँगी। इस सत्कार्य के लिए राजा ने प्रसन्नता के साथ अनुमति दे दी। नन्द ने यथास्थान एक पुष्करिणी वनवाई। स्फटिक शिला से वने मनोहर घाटों वाली पुष्करिणी शीतल जल से पूर्ण की गई और कमल पुष्प उसकी शोभा में चार चाँद लगाने लगे। साथ ही पुष्करिणी नाम को भी सार्थक करने लगे। कमल समूह से पुष्करिणी की शोभा तो वढ़ी ही—कमलपराग से उसका जल भी सुरभित हो

गया। और पराग के लोभी भंवरों के गुंजारव से दिनभर मंद संगीत-का समा बँधा रहता।

नन्द मणिकार की योजना तो अद्वितीय पुष्करिणी बनाने की थी। अतः उसने उसकी चारों दिशाओं में चार वनखण्ड भी बनवाये। इन चारों वनभूमियों में सघन छाया वाले और मधुर फल वाले वृक्ष आरोपित थे। नन्द को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उसने पूर्व दिशा के वनभाग में एक विशाल चित्रशाला बनवाई। रेशमी वस्त्रों और स्वर्ण स्तम्भों पर लगे चित्रों से यह वनखण्ड अत्यन्त सुन्दर बन गया था। इसमें ठहरने तथा विश्राम करने के लिए अनेक आसन भी बिछाये गये थे। इसी तरह पश्चिम दिशा में एक चिकित्सा-शाला बनवाई। इसमें अनुभवी वैद्य रहते थे। दूर-दूर से आये लोग इस चिकित्सा-शाला में निश्शुल्क स्वास्थ्यलाभ करते और नन्द को दुआएँ देते हुए चले जाते।

उत्तर दिशा की वनभूमि में अलंकार-शाला का निर्माण कराया गया। इसमें दीन-याचकों, ब्राह्मणों आदि को वस्त्र, अलंकार आदि का दान मिलता था। अन्त में जीवन के लिए प्रथम आवश्यकता की पूर्ति हेतु दक्षिण दिशा में भोजनशाला की स्थापना की गई। यहाँ सबको भोजन मिलता था।

सचमुच नन्द मणिकार की यह पुष्करिणी दिव्य व अनुपम थी—राजगृह की सभी वापी-पुष्करिणियों से बढ़ी-चढ़ी। नन्द ने इसका नाम भी अपने नाम के साथ जोड़कर 'नन्दा पुष्करिणी' रख दिया। अब तो चारों ओर नन्द और नन्दा की ही धूम थी। नन्द और नन्दा एक साथ बँध गए थे।

दूर-दूर से यात्री आते, नन्दा में स्नान करते, तन और मन का ताप मिटाते तथा शरीर की क्लान्ति भी दूर कर लेते। इसके ही भोजन, वस्त्र, अलंकार तथा स्वास्थ्य-लाभ करके नन्दा के नन्द की जय-जयकार करके चले जाते।

नन्द की इच्छा पूर्ण हो गई थी। वह सुखी था। नन्दा को देखकर भी सुखी था और नन्दा से लाभ प्राप्त करने वालों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर भी सुखी था, नन्द। लोग कहते—धन्य है नन्द मणिकार, जिसने जनता जनार्दन के सुख के लिए नन्दा का निर्माण कराया।

× × ×

सबै दिन जात न एक समान। नन्द को यह सुख बहुत दिन नसीब नहीं हुआ। कालान्तर में वह बुरी तरह अस्वस्थ हो गया। प्रायः सभी रोग उभर आये—ज्वर, दाह, शूल, श्वास; यहाँ तक कि कुष्ठ भी हो गया। इन दुस्साध्य रोगों से नन्द घबरा उठा। नन्द भला आदमी था, परोपकारी था, इसलिए कुशल चिकित्सकों ने मन लगाकर चिकित्सा की, पर कुछ भी लाभ नहीं हुआ। दुस्साध्य रोग असाध्य घोषित कर दिये गए। चिकित्साशास्त्र में हर रोग की दवा है, पर हर रोगी की नहीं। कर्मरोग का इलाज तो किसी के पास नहीं। कर्म-भोगों का ही दूसरा नाम रोग है। कुछ लोगों को जब भोगों अथवा रोगों से जल्दी छुटकारा मिल जाता है तो हम समझते हैं कि चिकित्सक ने रोग ठीक कर दिया। लेकिन नन्द को तो रोग-रूपी कर्म-भोग मृत्यु-पर्यन्त भोगने थे, सो रोगों से ग्रसित नन्द मणिकार, तड़पता-बिलखता एक दिन चल बसा।

नन्द का नन्दा—अपनी पुष्करिणी के प्रति ममत्व था—आसक्ति थी, और मरते समय नन्दा पुष्करिणी ही उसकी भावनाओं में बसी थी। इसलिए वह मरकर अपनी ही पुष्करिणी का मेंढक बना। मेंढक क्या जानता था कि पूर्वभव में मैंने ही इस नन्दा पुष्करिणी का निर्माण कराया था। और तो और यह शरीर भी अपना नहीं होता, फिर यह नन्द की कैसे होती। दिन यों ही बीतते रहे।

जो यात्री नन्दा में स्नान करते, वे बार-बार नन्द मणिकार की जय-जयकार करते और कहते—'बेचारा नन्द मर गया, कितना अच्छा था।' मेंढक ने जब बार-बार अपने पूर्वभव का नाम सुना, अपनी चर्चा सुनी तो उसे लगा कि यह सब मैंने पहले भी कभी सुना है। यों

सोचते-विचार करते मेंढक को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया और वह जान गया—'मैं ही नन्द मणिकार हूँ...पर मैं तिर्यंच योनि को प्राप्त हुआ ? क्यों हुआ ऐसा ? मैंने ऐसा कौन-सा दुष्कर्म किया था ?'

नन्द का चिन्तन बढ़ा और उसने विचार किया—

'आह ! मैं निर्ग्रन्थ वचनो को भूल गया। श्रावकव्रतों से उदासीन और लापरवाह हो गया था। सच ही है ममत्व के बंधन में बँधे मिथ्यात्वी प्राणी की यही दशा होनी चाहिए, जो मेरी हुई है। अब मैं इसी तिर्यंच योनि में श्रावकव्रतों को अंगीकार करता हूँ और दृढ़ता से इनका पालन करूँगा। आज से—नहीं, अभी से मैं मृत्युपर्यन्त वेला-वेला तप करूँगा।'

तिर्यंच योनि में नन्द मणिकार के शुभ कर्मों का उदय हुआ और वह कल्याण-पथ पर अग्रसर हो गया। नन्द अपने नियम का पालन करने लगा। एक बार पुनः भगवान महावीर राजगृह पधारे और पूर्ववत् गुणशीलक उद्यान में ठहरे। राजा-प्रजा बड़े उत्साह और श्रद्धा से श्रमण भगवान महावीर के दर्शनों को जाने लगे। कुछ दर्शनार्थी नन्दा पुष्करिणी में स्नान करने आये। स्नान करते हुए उन्होंने आपस में कहा—

"नहा-धोकर जल्दी तैयार हो जाओ, क्योंकि जल्दी ही भगवान महावीर के दर्शनों को चलना है। हम लोगों का अहोभाग्य है, जो भगवान स्वयं दर्शन देने राजगृह पधारे हैं।"

नन्द के जीव वाले मेंढक ने भी यह चर्चा सुनी तो सोचा—'अहो ! मेरा भी अहोभाग्य है, जो मैं वीर प्रभु के दर्शन करके अपना इहभव और परभव सफल करूँगा।'

यह सोचकर मेंढक पुष्करिणी से बाहर आया और फुदक-फुदक कर गुणशीलक उद्यान की ओर जाने लगा। संयोग से उसी समय राजा श्रेणिक भी अपने अंगरक्षकों सहित भगवान के दर्शन करने जा रहा था। श्रेणिक के घोड़े की टाप से मेंढक कुचल गया और उसकी

आँखें बाहर निकल आईं। मेंढक को अपना अन्त समय निकट ल
अब वह थोड़ी ही देर का मेहमान था। आगे बढ़ने की शक्ति
नहीं थी।

पूरी शक्ति के साथ मेंढक एक किनारे आया और अपने
हाथ जोड़ वीर प्रभु की भाव-वन्दना की तथा इस प्रकार शुभ
किया—

"मेरे धर्माचार्य मोक्षकामी भगवान महावीर को मेरा नमस्
हो। जिस प्रकार पूर्वभव में मैंने स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्
किया था, उसी प्रकार इस समय भी मैं समस्त प्राणातिपात
प्रत्याख्यान करता हूँ।

"अपने जिस शरीर पर मेरा ममत्व था, जिसे मैंने सदा नीर
और स्वस्थ रखने का प्रयास किया था, इस नश्वर तन को भी
त्यागता हूँ।"

शुभध्यान और शुभभाव में मेंढक ने प्राण त्याग दिये औ
परिणामस्वरूप सौधर्मकल्प, दर्दुरावतंसक विमान तथा उपपात सभ
में देव रूप में उत्पन्न हुआ। इस दर्दुरदेव को विपुल और दिव्य ऋद्धि
प्राप्त हुई।

× × ×

कालान्तर में एक बार पुनः भगवान महावीर अपने चौदह हजार
शिष्यों सहित राजगृह में पधारे। सदा की भाँति वे राजोद्यान गुण-
शीलक में अशोक वृक्ष के नीचे विराजित थे। उनकी धर्मसभा में
अनेक धार्मिक जन बैठे थे। राजा श्रेणिक भी राजसेवक तथा राज-
परिवार सहित भगवान की वाणी सुनने आया था। प्रभु के उपदेश
सुनकर लोग अपने-अपने घर चले गए। उसके बाद दर्दुरदेव, जो चार
हजार सामानिक देव, चार अग्रमहिषियों तथा तीन परिषदों सहित
अपने लोक में रहता था, ने अपने अवधिज्ञान से भगवान महावीर का
राजगृह में पदार्पण जान लिया। अतः वह देव अपने परिवार सहित

भगवान के दर्शन करने गुणशीलक उद्यान में आया और सूर्याभदेव के समान नाट्यविधि दिखाकर स्वर्गलोक को वापस लौट गया।

दर्दु रदेव की दिव्य ऋद्धि देख प्रमुख गणधर गौतम ने भगवान से पूछा—

"प्रभो ! महा ऋद्धिमान् इस दर्दु रदेव की दिव्य ऋद्धि कहाँ समा गई, सो मुझे बताइए।"

वीर प्रभु ने बताया—

"गौतम ! यह बात मैं तुम्हें एक दृष्टान्त देकर समझाता हूँ। पर्वत अथवा कूट के आकार की एक शाला थी, जो कूटागार के नाम से जानी जाती थी। वह चारों ओर से इतनी सुरक्षित और अभेद्य थी कि उसमें वायु का प्रवेश भी नहीं हो पाता था। उस कूटागार के समीप ही एक छोटी-सी बस्ती थी। एक बार जोरों की वर्षा हुई। सभी लोगों ने उस कूटागार में शरण ली। सभी मनुष्य उस कूटशाला में समा गए और जलवात से निर्भय हो गए।

"गौतम ! इसी प्रकार यह दिव्य ऋद्धि भी देव-तन में समा गई है।

"गौतम। अब तुम यह भी जानना चाहोगे कि यह दिव्य ऋद्धि दर्दु रदेव को किस तरह प्राप्त हुई, सो मैं तुम्हें उसके पहले दो जन्मों की कहानी सुनाता हूँ। एक जन्म में वह इसी राजगृह नगर में नन्द नामक मणिकार था। आज भी विद्यमान नन्दा नाम की पुष्करिणी उसी की बनवाई हुई है। ममत्व-बन्धन के कारण वह नन्द मणिकार अपनी ही पुष्करिणी में मेंढक बना और मेंढक भव में उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ तो मेरे दर्शन करने आया। मैं उन दिनों इसी उद्यान में था। तुम भी मेरे साथ थे।

"गौतम ! राजा श्रेणिक के घोड़े की टाप से मेंढक मर गया। उसने शुभध्यान और शुभसंकल्प में प्राण त्यागे थे, सो वह इस देव-लोक का महाऋद्धिमान देव बना।"

दोनों जन्मों की पूरी कथा सुनने के बाद गणधर गौतम सन्तुष्ट व प्रसन्न हुए और भगवान से दूसरा प्रश्न पूछा—

"प्रभो ! इस दर्दु रदेव की एक बात और जानना चाहता हूँ। वह यह कि इस देव की देवलोक में कितनी स्थिति और रह गई है ?"

वीर प्रभु ने इस प्रश्न का समाधान किया—

"देवभव की स्थिति चार पल्योपम कही गई है। इतनी अवधि भोगने के बाद यह देव आयु, भव और स्थिति के क्षय को प्राप्त होगा और देवलोक से च्युत होकर महाविदेहक्षेत्र में नरभव प्राप्त करेगा। इसके बाद वह साधना द्वारा मोक्ष पद प्राप्त करेगा।

"गौतम ! दर्दु रदेव के दोनों पूर्वभवों की कथा से तुम यह निश्चय जान गए होंगे कि ममत्व ही बन्धन और दुर्गति का कारण होता है। इस ममत्व-बन्धन के कारण ही मणिकार नन्द दुर्गति को प्राप्त हुआ था। इसके विपरीत भावशुद्धि से सद्गति मिलती है। भावशुद्धि के कारण एक मेंढक देवभव को प्राप्त हुआ।"

श्रद्धा से नत होकर गणधर गौतम ने कहा—

"आपके वचन सत्य हैं, प्रभो !"

[ज्ञातासूत्र १३]

१३ तेतलिपुत्र—जीवन के उतार-चढ़ाव

तेतलिपुर की प्रजा बहुत सुखी थी और बहुत ही दुखी भी थी। जब भविष्य की दुश्चिन्ता सिर पर सवार हो तो वर्तमान का सुख भी सुख नहीं रह जाता। तेतलिपुर की प्रजा अपने भावी शासक के लिए चिन्तित थी। सभी लोग यह सोचते थे कि 'पता नहीं, भविष्य में कौन राजा बनेगा? देश को अनाथ देखकर किसी विदेशी कुशासक राजा ने राज्य पर अधिकार कर लिया तो हमारा क्या होगा?'

तेतलिपुर का राजा कनकरथ प्रजारक्षक, न्यायप्रिय और सुशासक था। पर उसमें भोग-लिप्सा इतनी अधिक थी कि वह सदा ही राजा बना रहना चाहता था। अपनी इस असफल इच्छा के लिए वह अपने किसी भी पुत्र को सही-सलामत नहीं रहने देता था। पुत्र के पैदा होते ही वह उसे अपाहिज कर देता था। किसी अंग को भंग करके ऐसा विकलांग बना देता कि वह शासन करने के योग्य ही न रहे। राजा कनकरथ सोचता था, अगर कोई लड़का ठीक रहा तो युवा व समर्थ होने पर मन्त्रिमण्डल के दबाव तथा प्रजा प्रतिनिधियों के अनुरोध से मुझे राज्यच्युत कर देगा और फिर मैं अपने मनोवांछित काम-भोग प्राप्त नहीं कर सकूँगा।

कैसी विचित्र थी तेतलिपुर के राजा कनकरथ की मनोदशा? यह दुनिया बहुरंगी है। इसमें सभी तरह के पिता और सभी तरह के पुत्र हैं। राजा के इस व्यवहार से रानी पद्मावती बहुत दुखी और चिंतित थी। पर करती भी क्या? समर्थ के आगे किसका वश चलता है?

राजा कनकरथ का मन्त्री था, तेतलिपुत्र। महामात्य तेतलिपुत्र सूझ-बूझ का धनी, चतुर, स्वामिभक्त और देश के हितों का रक्षक था। एक बार तेतलिपुत्र अपने अंगरक्षकों सहित नगर-भ्रमण को निकला। किसी भवन की छत पर उसने एक षोडशी बाला को कुन्दुक-क्रीड़ा करते देखा। मन्त्री उस बाला को देखता ही रह गया। अपने एक साथी से कहा—

"लगता है, स्वर्ग की अप्सरा ही छत पर उतर आई है। कैसा रूप पाया है !"

साथी ने कहा—

"बस पूछिये मत। बिलकुल जीवित स्वर्णप्रतिमा-सी लगती है। इसका बाप भी तो स्वर्णकार है। लगता है, उसने सोने की मूर्ति बनाकर उसमें जान डाल दी है।"

"क्या तुम इसे जानते हो भद्र ? किसकी लड़की है यह सुन्दरी ?" मन्त्री तेतलिपुत्र ने अपने साथी से पूछा। साथी ने बताया—

"मन्त्रिवर ! हमारे ही नगर के कलाद नामक स्वर्णकार की पुत्री है यह बाला। इसकी माँ भद्रा भी कम सुन्दर नहीं है।"

"क्या तुम इसका भी नाम जानते हो ?" मन्त्री ने दूसरा प्रश्न किया। साथी ने बताया—

"हाँ, इसका नाम पोट्टिला है।"

मन्त्री फिर आगे नहीं गया और अपने घर लौट आया। पोट्टिला उसके मन में बस गई थी और अब वह उसे अपने घर में भी बसाना चाहता था। दूसरे दिन महामात्य तेतलिपुत्र ने स्वर्णकार कलाद के पास अपना विवाह-प्रस्ताव भेजा। कलाद ने अपनी पुत्री पोट्टिला का विवाह मन्त्री के साथ करना सहर्ष स्वीकार कर लिया। क्योंकि उस गरीब को मन्त्री से अच्छा जामाता मिलता भी कहाँ ? विधि-विधानपूर्वक पोट्टिला का विवाह तेतलिपुत्र के साथ सम्पन्न हो गया। पति-पत्नी आनन्द से रहने लगे। दोनों एक-दूसरे को पाकर सुखी व प्रसन्न थे। उन दोनों के दिन सुख से कटने लगे।

मंत्रि-पत्नी पोट्टिला और कनकरथ की रानी पद्मावती दोनों एक साथ गर्भवती हुई। इस बार रानी ने निश्चय किया—जैसे भी हो, मैं अपनी इस होने वाली सन्तान को सुरक्षित रखूँगी, पति की राज्य-लिप्सा से बचाऊँगी। जब प्रसव का समय निकट आया तो रानी ने मंत्री को अपने महलों में बुलाया और दीन स्वर में कहा—

"मंत्रिवर ! इस बार मेरी सन्तान को किसी तरह बचा लो। अब तो मैं तंग आ चुकी। मेरे कितने बच्चे विकलांग हो चुके हैं। क्या एक माँ का हृदय यह वज्राघात सह सकता है। अब मेरा दिल टूट चुका है। आप कुछ भी उपाय कीजिए।"

मंत्री गम्भीर हो गया। बोला—

"महारानीजी ! कौन नहीं चाहता कि तेतलिपुर का भावी शासक सुरक्षित रहे। नगर का बच्चा-बच्चा चाहता है कि कोई राजकुमार हो तो राजा की आँखों से छिपाकर उसे बड़ा किया जाये और फिर शासन की बागडोर उसे सौंपी जाय। महाराज कनकरथ के जीवन का भी तो उत्तरकाल चल रहा है। आप चिन्ता न करें। कोई न कोई उपाय मैं अवश्य सोचूंगा।"

"एक उपाय मैंने सोचा है" रानी बोली—"मैं ऐसा प्रबन्ध कर लूँगी कि किसी को कुछ पता न चले, आप मेरे बच्चे को अपने घर ले जाएँ और मेरी अमानत मानकर उसका पालन-पोषण करें।"

मंत्री को उपाय कारगर लगा, बोला—

"अच्छा, ऐसा ही करूँगा। वक्त आने दो।"

मनुष्य का प्रयत्न विधि की प्रेरणा से होता है। कनकरथ के इस पुत्र को सुरक्षित बचना था, इसलिए कुछ अनुकूल संयोग अपने आप बिना बनाये ही बन गये। मंत्री तेतलिपुत्र की पत्नी पोट्टिला और रानी ने एक ही दिन और एक ही समय सन्तानों को जन्म दिया। रानी ने बालरवि की-सी कान्ति वाले एक पुत्र को जन्म दिया और पोट्टिला ने एक मृत-कन्या को। सधे हुए साधनों से सन्तानों की अदला-बदली हो गई। राजा को सूचना दी गई—रानी ने मृत-कन्या

को जन्म दिया है। इस सूचना से राजा को प्रसन्नता हुई। उसने सोचा—चलो अच्छा ही हुआ। अपने आप ही वाधा टल गई। न होगा बाँस, न वजेगी बाँसुरी।

इधर तेतलिपुत्र ने अपने पुत्र की तरह कनकरथ के पुत्र का जन्मोत्सव वड़े ठाट-बाट से मनाया। वधाई देने के वहाने कुछ दिन वाद रानी मंत्रिभवन गई और अपने अंगजात को देख आई। पुत्रवती और शिशुमती होकर भी उसकी गोद सूनी थी, पर उसे खुशी थी कि उसका लाल सुरक्षित वच गया और अव वह एक दिन राजमाता भी वन जायगी।

महामात्य तेतलिपुत्र ने अपने इस तथाकथित पुत्र का नाम रखा —कनकध्वज। राजा कनकरथ ने पूछा—

"मंत्रिवर ! मेरे नाम पर ही अपने पुत्र का नाम तुमने क्या सोच कर रख लिया ? कनकध्वज तो मेरे पुत्र का नाम ही हो सकता है।"

मंत्री ने बताया—

"महाराज ! कभी-कभी नाम वेतुके भी होते हैं। आप तेतलि-पुर के राजा हैं, जबकि इसका नाम मेरे नाम पर है। वैसे मैंने अपने पुत्र का नाम कनकध्वज यह सोचकर रखा है कि वह राजा कनकरथ के राज्य में पैदा हुआ है। वैसे भी वह आपका बेटा है, क्योंकि समूची प्रजा राजा की ही सन्तान होती है न।"

कनकध्वज वृद्धि को प्राप्त होता गया और एक दिन युवा हो गया—शस्त्र-शास्त्र में पूर्ण निष्णात।

× × ×

मन का क्या भरोसा ? इस मन पर तो कभी विश्वास ही नहीं करना चाहिए। कभी यह किसी की श्रद्धा करता है तो दूसरे ही क्षण उसी का तिरस्कार। आज किसी से प्रेम करता है तो कल उसी से घृणा। महामात्य तेतलिपुत्र जिस पोट्टिला पर जान देता था, अव उसी से विरक्त हो गया। पोट्टिला के जीवन-पुष्प की पंखुड़ियाँ मुरझायीं न थीं, पर पतिप्रेम की सुवास समाप्त हो गई थी। घर में

कितना ही सुख हो, पर पति का प्यार न मिले तो सब मिट्टी के समान है। मंत्री के घर में कुछ कमी न थी। पोट्टिला खूब दान-पुण्य करती थी। मंत्री ने यों सभी सुविधाएँ दे रखी थीं, पर पोट्टिला का जीवन अब वह नहीं रहा, जो पहले कभी था।

एक बार सुव्रता नाम की एक साध्वी पोट्टिला के घर भिक्षा लेने आयीं। उनके साथ उनकी शिष्याएँ भी थीं। साध्वियों को आहार वहराने के बाद मंत्रिपत्नी पोट्टिला ने पूछा—

"आर्याओ ! मैं दुखिया हूँ—पतिवंचिता हूँ। कोई ऐसा मन्त्र दो कि मैं पति को अपनी ओर खींच सकूँ। जब तक वे मुझमें पुनः अनुरक्त नहीं होंगे, तब तक मेरा जीवन सुखी नहीं हो सकता। मुझ पर अनुग्रह करें।"

आर्या सुव्रता ने कहा—

"भद्रे ! तंत्र-मंत्र आदि का प्रयोग साधु-साध्वियों के लिए निषिद्ध है। लेकिन हम तेरा दुख अवश्य दूर करेंगी।

"पुत्री ! धर्म की शरण में जाने से कोई दुख नहीं रहता। धर्म तो एक कल्पवृक्ष है। धर्म की शरण लेने वाले के लिए त्रिलोकी में कुछ भी असंभव नहीं। मोह और आसक्ति ही तो दुख के जनक-जननी हैं। इन्हें तो छोड़ना ही पड़ेगा।"

आर्या सुव्रता ने विस्तार से धर्म का मर्म उसे बताया। पोट्टिला प्रतिबोधित हुई और वह सच्ची श्राविका बन गई। साध्वियाँ चली गयीं। पोट्टिला के मन को शान्ति मिली। उसका झुकाव धर्म की ओर हो गया। अब उसे स्वयं ही पति से, संसार के दुखों से विरक्ति होने लगी। यहाँ अपना है ही कौन ? एक धर्म ही तो अपना है।

एक बार आर्या सुव्रता पुनः तेतलिपुर में आईं। पोट्टिला का मन अब पूरी तरह संसार से हट गया था। अतः उसने पति से अनुमति लेकर दीक्षा अंगीकार कर ली और आर्या सुव्रता की शिष्या बन गई।

साध्वी बनकर पोट्टिला ने दृढ़ता से चारित्र पर्याय का पालन किया और अनशनपूर्वक शरीर त्यागकर देवभव प्राप्त किया।

× × ×

मृत्यु किसी को नहीं छोड़ती। चाहे, अनचाहे सभी को मरना पड़ता है, सो एक दिन कनकरथ को भी संसार छोड़ना पड़ा। उचित अवसर जानकर मंत्री तेतलिपुत्र ने भी रहस्योद्घाटन किया कि कनकध्वज स्वर्गीय राजा कनकरथ का ही पुत्र है। इस रहस्योद्घाटन से प्रजा को भारी प्रसन्नता हुई। समारोहपूर्वक राजकुमार कनकध्वज का राज्याभिषेक हुआ और वह न्याय-नीति के साथ तेतलिपुर की प्रजा का पालन करने लगा। कनकध्वज यह जानता था कि मैं आज जो भी हूँ, महामात्य तेतलिपुत्र की ही बदौलत हूँ। अतः वह पिता के समान ही महामात्य का आदर करता था। महारानी पद्मावती अब राजमाता थीं। वे भी महामात्य तेतलिपुत्र को बहुत मानती थीं।

महामात्य तेतलिपुत्र सुखों में—भोगों में डूबे हुए थे। अब तो उनका प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया था। उनकी पत्नी पोट्टिला देवलोक में देव बनी थी। उक्त देव ने अवधिज्ञान के प्रयोग द्वारा अपने पूर्वभव से पति तेतलिपुत्र की स्थिति जानी तो उन्हें प्रतिबोध देने का निश्चय किया। इसके लिए पोट्टिलादेव ने एक युक्ति सोची—राजा कनकध्वज और मंत्री तेतलिपुत्र का विरोध। क्योंकि राजा मंत्री का बहुत आदर करता है। अचानक ही वह अपनी उपेक्षा सहन नहीं कर पायेगा और उसे राज-काज से विरक्ति हो जायगी।

पोट्टिला देव ने देवमाया का विस्तार कर दिया। जैसा-जैसा देव ने चाहा, वैसा-वैसा ही होने लगा। एक बार मंत्री तेतलिपुत्र राजा कनकध्वज के पास पहुँचा। राजा ने उसकी अवहेलना की। बैठने तक को नहीं कहा। यहाँ तक कह दिया कि "वक्त-बेवक्त, चाहे जब चले आते हो।" देवप्रेरणा से ही ऐसा हुआ था। अपने इस अपमान से मंत्री तिलमिला गया और घर लौटा। राजभवन से घर आने तक

राजसेवकों ने भी उसकी उपेक्षा की। अब तो दुखी होकर मंत्री ने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया। लेकिन देवमाया से आत्म-हत्या के सफल साधन भी एक के बाद एक विफल होते गये। मंत्री ने पहले भयंकर तीव्र प्रभावी विष पिया। परिणाम कुछ नहीं हुआ। तलवार भी कुंठित हो गई। फाँसी लगानी चाही तो रस्सी टूट गई। पानी में डूबना चाहा तो पानी सूख गया; यहाँ तक कि धधकती अग्नि भी शीतल हो गई।

तेतलिपुत्र जितना दुखी व निराश था, उतना ही चकित भी था। अपमान के जीवन से मरना कहीं उत्तम है, पर अब मरना भी तो अपने हाथ में नहीं रहा। न जी सकता हूँ और न मर ही सकता हूँ, आखिर करूँ क्या?

किंकर्तव्यविमूढ़ बना तेतलिपुत्र विचारों के सागर में डूबा था कि उसी समय पोट्टिलादेव प्रकट हुआ और मंत्रिपत्नी पोट्टिला के रूप में पूर्वभव के पति तेतलिपुत्र से इस प्रकार कहा—

"मंत्री! आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे—सब ओर देख लो, संकट-ही-संकट है। किसी ओर खाई है, किसी ओर हिंसक जीव, कहीं अग्नि है तो कहीं अथाह जल। बोलो कहाँ जाओगे?"

मंत्री मौन रहा। देव ने पुनः पूछा—

"ऐसी दशा में क्या करोगे, देवानुप्रिय?"

तेतलिपुत्र के मुँह से निकला—

"तब तो धर्म ही एकमात्र शरणस्थल है।"

देव ने पुष्टि की—

"तो फिर आगे बढ़ो। धर्म की नौका पर बैठकर भवसागर पार करो। धर्मात्मा सदा निर्भय रहता है।"

इतना कह देव अदृश्य हो गया और तेतलिपुत्र प्रतिबोधित हुए। विचार गहन होता चला तो उन्हें जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ और

१४ | ये जहरीले फल

क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य ? जब इसका ज्ञान हो जाए तो अग्राह्य को त्याग ही देना चाहिए। लेकिन अग्राह्य में आकर्षण होता है। विष मीठा होता है न, सो कुछ लोग जानकर भी फँस जाते हैं। फिर जैसा करते हैं, वैसा भोगते हैं।

चम्पानगरी में धन्य नाम का धनी श्रेष्ठी रहता था। दूर-सुदूर देशों में उसका व्यापार चलता था। बहुत अनुभवी था, श्रेष्ठी धन्य और था व्यापार-कुशल। बहुत देश और बहुत नगर उसने देखे थे। धन्य ने अहिच्छत्रा नगरी की प्रशंसा सुनी तो स्थल-मार्ग से अहिच्छत्रा जाने का निश्चय कर लिया।

चम्पानगरी के उत्तर-पूर्व में अहिच्छत्रा नगरी थी। वहाँ का राज कनककेतु गुणग्राही और प्रजावत्सल था। धर्मपूर्ण व्यापारिक नीति यही है कि खुद खाये तो औरों को भी खिलाये। धन्य श्रेष्ठी भी ऐसा ही परोपकारी था। अपने लाभ में कमी न आये और दूसरों को भी लाभ मिले तो उसका क्या बिगड़ता था ? उसने सोचा—अहिच्छत्रा जाऊँगा तो नगरी के अन्य व्यापारियों को भी लेता जाऊँगा। मेरा साथ हो जायगा और उनका भी काम बन जायगा। परदेस में अपने साथी ही काम आते हैं। श्रेष्ठी धन्य ने घोषणा कराई—

"मेरे साथ जो-जो व्यापारी अपना माल लेकर अहिच्छत्रा चाहें चलें। माल के लिए ,छकड़े, गाड़ियाँ, भोजन-वस्त्र व्यवस्था मैं अपनी ओर से करूँगा।"

इस घोषणा को सुनकर सैकड़ों लोग तैयार हो गए। गाड़ियों में माल लद गया और काफिला रवाना हो गया धन्य श्रेष्ठी का। मार्ग लम्बा था और यात्रा-साधन विलम्बित थे। मार्ग में पड़ाव डालते, रुकते-ठहरते काफिला चला जा रहा था। अहिच्छत्रा की दूरी भी कम हो रही थी।

एक पड़ाव पर एक जंगल आया। इसी जंगल में ठहरना था। इस जंगल में नन्दी नामक फलों के वृक्ष थे। वृक्षों की छाया, सघन और शीतल थी और नन्दी नामक फल ऐसे आकर्षक रस भरे थे कि देखते ही खाने को मन करता था। केवल मन ही नहीं करता था, स्वादिष्ट भी इतने थे कि एक बार खाने पर दूसरी बार खाने को मन करता था। पर विडम्बना यह थी कि इन सुस्वादु नन्दीफलों को एक बार खा लेने वाला, दूसरी बार खाने के लिए जीवित नहीं रहता था।

श्रेष्ठी धन्य इन फलों का रहस्य जानता था। उसे मालूम था कि ये फल विषफल हैं। खाना तो दूर इन्हें तो छूना भी नहीं चाहिए। जंगल में प्रविष्ट होते ही धन्य ने नन्दीफल अपने साथियों को दिखाये और सावधान किया—

"भूलकर भी इन फलों को मत छूना। इनके खाने से मृत्यु हो जाती है। इनके वृक्षों की छाया से भी दूर रहना। देखने में ये जितने सुन्दर और खाने में जितने मधुर हैं, परिणाम में उतने ही भयंकर भी हैं। इनके खाने का एक ही परिणाम है, मृत्यु।"

साथी सावधान हो गए। जिह्वा पर संयम रखा और इन वृक्षों से दूर-दूर ही रहे। लेकिन इन्हीं में कुछ साथी ऐसे भी थे, जिन्होंने धन्य की बात पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने अपनी बुद्धि से सोचा—'फल खाने के लिए हैं। प्रकृति ने बनाये ही किस लिए हैं? ऐसे सुन्दर फल छोड़ने नहीं चाहिए।' यह सोच इन 'बुद्धिमानों' ने नन्दीफल खा लिये। परिणाम तो वही हुआ, जो होना था। सदा के लिए सो गए, फिर नहीं उठे, यह कहने कि फलों का स्वाद कैसा था।

समझदार बच गए। अहिच्छत्रा पहुँचे। माल बेचा। लाभ कमाया, और नया माल खरीद कर धन्य श्रेष्ठी के साथ सकुशल वापस लौट आये।

× × ×

संसार के दैहिक-सुख, विषय-भोग, नन्दीफल के समान हैं। बर-बस ही अपनी ओर खींच लेते हैं। अज्ञानी खिंच जाते हैं। विषयों का परिणाम विषमय ही निलकता है। इन विषय-भोगियों में ज्यादा-तर ऐसे ही लोग हैं, जो जानते हैं, पर मानते नहीं। श्रेष्ठी धन्यरूपी गुरु सावधान करता है—'साधको ! साधना के मार्ग में तुम्हें नन्दीफल रूपी विषय अपनी ओर खींचेंगे। उनसे बचना। उनके सेवन का परिणाम घातक है।'

विषय-भोग भोगने में मधुर लगते हैं, इसलिए गुरुवाणी सुनकर भी– गुरु द्वारा सावधान किये जाने पर भी लोग उनका सेवन करने लग जाते हैं। दूसरे लोग विषयों की छाया से भी दूर रहते हैं और धन्य श्रेष्ठीरूपी गुरु के साथ स्वलोक सकुशल वापस लौट आते हैं।

[ज्ञातासूत्र १५]

आसक्ति से पीड़ा | १५

हस्तिशीर्ष नगर बहुत बड़ा और शोभा-सम्पन्न था। इस नगर में न्यायपरायण राजा कनककेतु का शासन था। दूर-सुदूर द्वीप-द्वीपान्तरों की यात्रा करने वाले अनेक समुद्री व्यापारी हस्तिशीर्ष में रहते थे। समुद्री व्यापारियों का यह दल अनेक बार लवणसमुद्र की यात्रा कर चुका था और अपने इस समुद्री व्यापार से अपार धन कमाया था।

सदा की भाँति एक बार इस व्यापारी दल ने लवणसमुद्र द्वारा द्वीपान्तर के लिए प्रस्थान किया। शुभ मुहूर्त में नावों के लंगर उठे और सागर के वक्ष को चीरती हुई व्यापारियों की बड़ी-छोटी नौकाएँ आगे बढ़ने लगीं। कई दिन बीत गये। समय पलटते देर क्या लगती है? अचानक ही जोरों का तूफान उठा। हाथ न दीखे ऐसा घटा-टोप अँधेरा, तीव्र वायु और लहरों के प्रलयंकारी थपेड़े। नाविक और नियामक किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। पोतचालक को मतिशून्य और दिशा-शून्य देखकर व्यापारी बहुत घबराये। उन्होंने नौका चालक से कहा—

"कुछ करो। पता लगाओ, नावें किधर बढ़ रही हैं। कुछ तो करो।"

प्रधान नाविक ने कहा—

"मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है। मुझे दिशाओं का कुछ भी ज्ञान नहीं है। अब तो बस एक ही उपाय है...... ।"

"क्या ?"

घबराये हुए व्यापारियों ने पूछा। नियामक-चालक ने बताया—

"इष्टदेव की प्रार्थना ही एक उपाय है। प्राथना से ही कुछ हो सकता है। सब मिलकर प्रार्थना करो। आशा है सभी विघ्न दूर होंगे।"

समवेत-प्रार्थना में विशेष शक्ति होती है। आर्तप्राणी की प्रार्थना और अधिक प्रभावशाली हो जाती है। सब मिलकर प्रार्थना करने लगे। प्रार्थना के प्रभाव से तूफान थमा। अंधेरा भी मिट चला और विशेष बात यह हुई कि मतिभ्रष्ट चालक की बुद्धि और दिशाज्ञान पुनः स्पष्ट और स्थिर हो गये। पवन के प्रवाह की दिशा में नौकायें बढ़ने लगीं। चालक ने प्रसन्नता से कहा—

"अहा! बहुत जल्दी ही हम कालिकद्वीप पहुँच जायेंगे। यह द्वीप हमने आज तक नहीं देखा था। द्वीप अब आने ही वाला है। तट के वृक्ष दिखाई देने लगे हैं।"

यथासमय नावें कालिक द्वीप के किनारे पहुँच गईं। नावों के लंगर डालने के बाद यात्री उतरे और द्वीप में विचरण करने लगे। यहाँ प्रकृति का अखण्ड साम्राज्य था। हरे-भरे सुहाने जंगल थे। दूर-दूर तक भूमि पर मखमल-सी घास बिछी थी और अनेक सुन्दर वृक्ष लहलहा रहे थे। लेकिन मनुष्यों का निवास नहीं था। व्यापारियों ने विचार किया—

"इस जंगल में व्यापार तो क्या होगा, पर जब आये ही हैं तो घूम-फिर कर द्वीप ही देख लें। कुछ प्रकृति का मुक्त आनन्द तो लूट लें।"

जंगल में आगे बढ़े तो व्यापारियों ने नील वर्ण के सुन्दर सजीले अश्व चरते हुए देखे। मनुष्यों से अपरिचित अश्व मनुष्यों की गंध और आहट पाकर ही दूर भाग गए। अजनबी लोगों से प्राणों का भय उन्हें हुआ। व्यापारी वन भाग में और भीतर पैठे तो खुशी से उछल

पड़े—सोने, चाँदी और रत्नों की खानें उन्हें मिल गईं। एक साथ सबके मुँह से निकला—

"वाह रे भाग्य ! माल बेचकर जीवन भर जितना धन नहीं कमा पाते, उतना एक ही स्थान पर मिल गया। बे-रोक-टोक जितना चाहो भर लो। इसे कहते हैं छप्पर फाड़ के धन बरसना।"

व्यापारियों ने नावें खाली कीं। उनका माल अब किस मतलब का था ? नावों में हीरे, जवाहरात भर लिये और यथासमय अपने देश के लिए प्रस्थान कर दिया। पवन अनुकूल था। कुछ ही दिनों में व्यापारी अपने नगर हस्तिशीर्ष पहुँच गए।

× × ×

पुराने समय में आयकर देने की आजकल-जैसी प्रथा नहीं थी। व्यापारी स्वयं ही अपनी इच्छा से अपने लाभांश की भेंट राजा को देते थे। अतः हस्तिशीर्ष के समुद्री व्यापारी कालिक द्वीप से लौटने के बाद रत्नों की भेंट लेकर राजा कनककेतु के पास गए। राजा कनककेतु ने व्यापारियों को उचित आसन दिया और प्राप्त भेंट पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोला—

"व्यापारियो ! तुम्हारे कारण ही मेरे राज्य की श्री-समृद्धि कायम है। तुम लोग दूर-सुदूर द्वीप-द्वीपान्तरों की यात्रा करते हो। वहाँ से धन कमाकर लाते हो, पर हमारे लायक भी कोई चीज तुम कभी नहीं लाये। व्यापारियो ! मेरे योग्य कहीं तुमने कुछ देखा हो तो बताओ।"

एक व्यापारी बोला—

"राजन् ! इस बार कालिकद्वीप में हमने एक ऐसी चीज देखी है, जो आपके यहाँ अवश्य होनी चाहिए।"

"क्या ?" राजा कनककेतु ने उत्सुकता से पूछा।

व्यापारियों ने बताया—

"राजन् ! कालिकद्वीप में हमने नीलवर्ण के सजीले अवश्य देखे थे। ऐसे सुन्दर घोड़े हमने आज तक नहीं देखे। उनके सौन्दर्य का

वर्णन करने की क्षमता हमारी वाणी में नहीं है। अगर वे घोड़े आप पकड़वा सकें तो आपके वैभव में चार चाँद लगे जाएँगे। समस्या है कि उनको पकड़ा कैसे जाए। वे तो मनुष्य की गन्ध से भी दूर भागते हैं।"

राजा ने कहा—

"घोड़ों को पकड़ना तनिक भी मुश्किल नहीं। अब आप लोग शीघ्र ही कालिकद्वीप पुनः जाओ और मेरे कर्मचारियों को भी लेते जाओ। हर प्राणी इन्द्रियों का दास होता है। मधुर संगीत, सुस्वादु भोजन, आकर्षक रूप, लुभाने वाली गन्ध—इन सबसे आकर्षित होकर अश्व स्वयं ही हमारे जाल में फँस जायेंगे।"

व्यापारियों ने कालिकद्वीप जाने की शीघ्र ही तैयारी की। प्रलोभन के सब साधन लेकर राजपुरुष भी उनके साथ हो लिये। देखा-भाला मार्ग था। कुछ ही दिनों में सब कालिकद्वीप पहुँच गये। हुआ वही, जिसकी आशंका थी। मनुष्यों को देखते ही नीलवर्णी घोड़े बहुत दूर भाग गए। राजपुरुषों ने अब अपना जाल फैलाया। घोड़ों की विचरण-भूमि पर मखमली फर्श बिछा दिये, ताकि अश्व स्पर्श-सुख प्राप्त कर सकें। तीव्र और मनोहारी सुगन्ध वाले पदार्थ जहाँ-तहाँ रख दिये, जिनकी गन्ध ही ऐसी थी, जो बिना रस्सी के अपनी ओर खींच सके। इसके साथ ही ऐसे स्वादिष्ट पदार्थ रख दिये कि एक बार चख लेने पर किसी भी मूल्य पर उन्हें खाने का लोभ न छोड़ा जा सके। इतना सब करने के बाद राजपुरुषों ने वीणा का मधुर स्वर छेड़ दिया और छिपकर बैठ गए। थोड़ी ही देर बाद घोड़े आये। वीणा के मधुर स्वर ने उन्हें अपनी ओर खींचा। शान्तचित्त होकर घोड़े वीणावादन सुनने लगे। सुगन्धित पदार्थों ने उन्हें आकर्षित किया और वे स्वादिष्ट भोज्य पर टूट पड़े। मखमली फर्शों का सुखद स्पर्श भी उन्हें बहुत भाया। लेकिन कुछ घोड़े बड़े चतुर-चालाक थे। वे इन प्रलोभनों में ज्यादा देर नहीं फँसे और जंगल में भाग गए। कुछ घोड़े अपनी स्थिति को भूल गये और इन्द्रिय-सुखों में आसक्त

हो गए। छिपे हुए राजपुरुषों ने उन्हें फन्दे में फाँस लिया और गाढ़ बन्धन में जकड़ कर नावों में पटक दिया। नावें हस्तिशीर्ष नगर की ओर चलने लगीं। बन्धन में पड़े नीलवर्णी घोड़े अपने अज्ञान पर पछता रहे थे। क्षणभर के सुख ने उन्हें कैसे बन्धन में डाल दिया था। कहाँ वह मुक्त विचरण और कहाँ यह बन्धन ?

आसक्ति से प्राप्त पीड़ा की अभी तो शुरुआत थी। आसक्ति की पीड़ा का चरम रूप तो देखने को तब मिला जब राजा के आदेश पर राजकर्मचारियों ने इन जंगली घोड़ों को विनीत करना शुरू किया। चाबुकों की मार पड़ी, आँखें बाँधी गईं, तोबरा चढ़ाया गया, मुँह में वल्गा डाली गई। अन्ततः मुख, कान, नाक, टापें बाँधकर, चौकड़ी चढ़ाकर तथा चाबुकों से पीटकर सभी घोड़ों को शासित व शिक्षित किया गया। अब वे रथ खींचने तथा अन्य प्रकार से राजा की सवारी के काम में आने लगे।

×   ×   ×

सभी इन्द्रियों की आसक्ति पीड़ाप्रद और दुखद बन्धन का हेतु होती है। इसीलिए ज्ञानी संत ज्ञानी पुरुष संयमपूर्वक इन्द्रियासक्ति पर विजय प्राप्त करते हैं। उन्हें कंचन मिट्टी और कामिनी हाड़-मांस का घृणित रूप ही दीखती है। जीभ का स्वाद भी उन्हें प्रलोभन की पंक में नहीं फँसाता। इसके विपरीत आसक्ति में फँसने वाले सभी जीव—क्या मनुष्य, क्या तिर्यंच घोर कष्ट व पीड़ा को प्राप्त होते हैं। कौन नहीं जानता कि स्वाद की आसक्ति में मक्खी शीरे में चिपक कर मर जाती है, गन्ध की आसक्ति में भ्रमर कमल-सम्पुट में कैद हो जाता है और रूप की आसक्ति में पतंगा अपने प्राण गँवा देता है। आसक्ति पीड़ाप्रद है, इसमें दो मत नहीं हैं।

[ज्ञातासूत्र १७]

१६ | जीवन के दो छोर [संयम-असंयम]

पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी नगरी थी। यहाँ महाप्रतापी राजा पद्मनाभ राज्य करते थे। नरश्रेष्ठ पद्मनाभ जब वृद्धावस्था को प्राप्त हुए तो उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र पुण्डरीक को शासन भार सौंपा और स्वयं दीक्षित हो गये।

राजा पद्मनाभ के दो पुत्र थे—पुण्डरीक और कण्डरीक। बड़ा भाई पुण्डरीक राजा था और राजसी सुखों को भोग रहा था। लेकिन छोटे राजपुत्र कण्डरीक का मन भोगों से उचट गया और उसने भी अपने पिता की तरह संयम ग्रहण कर लिया।

मुनि कण्डरीक ने वर्षों संयम का पालन किया। तन के साथ मन को भी तपाया। उनका मन साधना में सुख का अनुभव करने लगा। तपश्चर्या द्वारा राजर्षि कण्डरीक ने संयम की पर्याप्त पूँजी संचित कर ली थी। होते-होते वे बीमार पड़ गए। उनका शरीर दाह-ज्वर से तपने लगा। काया राखे धर्म है। जब शरीर ही नहीं तो साधना कैसी? अतः तन को नीरोग व स्वस्थ करने की ओर मुनि कण्डरीक का ध्यान गया। घूमते-विचरते मुनिवर अपने बड़े भाई पुण्डरीक की राजधानी पहुँच गए। राजा पुण्डरीक ने संसारी नाते के अपने सहोदर अनुज मुनि कण्डरीक की निर्दोष शरीर-चिकित्सा कराई और मुनि स्वस्थ हो गए। विडम्बना यह हुई कि तन का रोग दूर हुआ तो मन का रोग लग गया। मुनि को अब संयम में सुख की अनुभूति नहीं होती थी। मन भोगों की तरफ खिंच रहा था। यही कारण था कि स्वस्थ होने पर भी उन्होंने विहार नहीं किया। वे अब भोग-सुखों—राजसी सुविधाओं को छोड़ना नहीं चाहते थे।

जिस राज एवं संसार को दुःखमय समझकर त्याग चुके थे अब पुनः उसी ओर लौटने की मूर्खतापूर्ण कल्पना करने लगे।

मुनि कण्डरीक को साधुवेश की मर्यादा का ख्याल था और अपने कुल की मर्यादा भी उन्हें रोके हुए थी। अतः चाहते हुए भी वे तन का साधुवेश नहीं त्याग सके और साधु-मर्यादा का दिखावटी आचरण करते रहे। राजा पुण्डरीक मुनि का मनोभाव ताड़ गए, अतः उन्होंने मनोवैज्ञानिक ढंग से भाई को सुपथ पर लाने का प्रयास किया। राजा ने सोचा—'वर्षों की तपस्या मिट्टी में मिली जा रही है। ज्यों ही मंजिल पास आने को है, त्योंही यह कल्याण-पथ छोड़कर दलदल में फँसना चाह रहे हैं। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है।' यह सोच राजा पुण्डरीक ने एक दिन मुनि कण्डरीक से कहा—

"महाराज! आप धन्य हैं। कहाँ आप-जैसे योगी एवं तपस्वी और कहाँ हम-जैसे भोगी। अनेक कष्टों को सहकर ग्रामानुग्राम विहार करना आप-जैसे धर्मवीरों का ही काम है। हम-जैसे पामर जीव तो क्षण-भर का कष्ट भी सहन नहीं कर सकते। आप-जैसे मुनि संसार के भोगों को विषतुल्य समझकर त्याग देते हैं और हम भोगों के दलदल में फँसे रहते हैं।"

इस तरह अपनी प्रशंसा सुनकर मुनि कण्डरीक मन-ही-मन कटकर रह गए और शीघ्र ही वहाँ से विहार कर दिया। मुनि कण्डरीक जंगल में गए पर भोगों को साथ लेते गए। आसक्त मन से वन जाने में कोई लाभ नहीं, क्योंकि तब वन में भी भवन (संसार) साथ ही जाता है। मुनि ने संयम पालन करने का प्रयास किया, पर कर नहीं पाये। सोचने लगे—'राजसुख त्यागकर मैंने मूर्खता की। क्या रखा है, इस तरह कष्ट उठाने में? सुख तो भोगों में ही है।' यों पथ से विचलित होकर मुनि पुनः भाई पुण्डरीक के पास चले आये और राजा से स्पष्ट शब्दों में कहा—

"राजन्! संयम का पालन मुझ से नहीं होता। मुझे तो भोग चाहिए।"

राजा ने विचार किया और उनका खुद का मन वैराग्यपूरित हो गया। भोगी को योगी बनते देर नहीं लगी। राजा पुण्डरीक ने भाई कण्डरीक को सिंहासन पर बैठाया और स्वयं दीक्षित होकर तप करने चले गए। वर्षों का योगी कण्डरीक भोगी बनकर विषयरूपी विषैले दलदल में डूब गया। विषयों का परिणाम तो दुखद होता ही है, अतः राजा कण्डरीक अत्यधिक भोगों के कारण तीव्र रोगों से ग्रस्त हो गया और असह्य वेदना से चीखते-चिल्लाते जलते-तड़पते मृत्यु को प्राप्त हुआ। शरीर-मोह, तीव्र भोगासक्ति आदि के कारण वह सातवें नरक में नैरयिक बना।

इधर मुनि पुण्डरीक अपनी साधना में स्थिर थे। स्वाध्याय, ध्यान और तपश्चर्या द्वारा थोड़े ही दिनों में उनकी आत्मा का कलुष धुलता गया। उज्ज्वल से उज्ज्वलतर और उज्ज्लतम स्थिति की ओर बढ़ते-बढ़ते उन्होंने अपने शरीर को सुखा डाला। देह-ममत्व से ऊपर उठकर मुनि पुण्डरीक ने शरीर-दाह और रोगों को समभावपूर्वक सहन किया। इसी तरह साधना करते-करते उन्होंने शुभ भाव में समाधि-पूर्वक प्राण त्याग किया और सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्कृष्ट स्थिति वाले देव बने।

× × ×

मन को अलग करके की गई साधना केवल कायाकष्ट मात्र होती है। जब साधना में मन सुखी हो, तभी साधना सच्ची साधना है। ऐसी अल्प-समय की साधना भी मंजिल तक पहुँचा देती है। इसके विपरीत दीर्घकाल तक साधना करने पर विषयों की ओर झुकने वाला साधक कुछ नहीं पाता।

संयम-असंयम—यही जीवन के दो छोर हैं। साधना-पथ पर बढ़ने से पहले साधक को पहला छोर मजबूती से पकड़ लेना चाहिए। जो मार्ग में ही अपनी मंजिल से भटक जाता है, वह अधिक दुखी और अधिक संतप्त होता है। लोक-परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं उसके।

[ज्ञातासूत्र १९]

खेल-खेल में मुक्ति | १७

राजा एक ही होता है और बहुत से लोग मिलकर एक प्रजा का रूप लेते हैं। राजा-प्रजा का सम्बन्ध चोली-दामन जैसा ही होता है। पोलासपुर का शासक ऐसा ही प्रजावत्सल राजा था। राजा का पुत्र राजकुमार अतिमुक्त प्रजा के बच्चों के साथ ही खेलता था। खेले भी किसके साथ? राजकुमार तो एक ही था और अकेले खेल बने कैसे, सो वह सब बच्चों में मिलकर नगर की विशाल क्रीड़ा-भूमि में खेलता था। कभी चौगान, कभी कन्दुक-क्रीड़ा तो कभी कुछ और खेल। खेल में सब बराबर थे। हार-जीत की कोई झेंप राजकुमार अतिमुक्त को कभी न होती। वह स्वयं इस बात का कायल था—'खेलत में को का को गोसैंया?'

पोलासपुर की विशाल क्रीड़ा-भूमि में सब बच्चे खेल रहे थे। पहले तो बच्चों का सामूहिक खेल चला। फिर दो-दो, चार-चार के झुण्ड में खेलने लगे। एक मुनि कीड़ा-भूमि के निकट से ही नगर के आवास-क्षेत्र की ओर जा रहे थे। सब बच्चे अपने-अपने खेल में लगे थे। बच्चों को मुनि से क्या प्रयोजन? किसी ने देखा, अनदेखा कर दिया और किसी ने देखा ही नहीं। मुनि को भी बच्चों से कोई काम न था। उन्हें भिक्षा लेकर शीघ्र ही अपने गुरु भगवान के पास लौटना था। लेकिन एक बालक मुनि को बड़े गौर से देख रहा था। देख रहा था—हंस जैसे श्वेत वस्त्र। कोई दाग, न धब्बा। धीमी, स्थिर गज-सी गति। आँखों में तृप्ति, मुख पर तेज और सन्तोष का साम्राज्य। देखने वाला बालक ही तो था, इसलिए वह सन्तोष, तृप्ति,

तेज आदि का अर्थ और व्याख्या शायद नहीं जानता था, पर इन शब्दों का साकार रूप वह मुनि में देख रहा था और प्रभावित हो रहा था। बालक बच्चों से अलग हुआ और भिक्षार्थी मुनि इन्द्रभूति गौतम के पास पहुँच गया। मीठी और चपल वाणी में बोला—

"कौन हैं आप ?"

"मैं कौन हूँ ? वत्स ! मैं एक श्रमण हूँ।" गौतम स्वामी ने प्यार से बालक को बताया और कुछ क्षणों के लिए ठिठक गए। बच्चे ने मुनि की उँगली पकड़ ली और पूछा—

"श्रमण क्या होते हैं ? आप कहाँ रहते हैं और अब किसके पास जा रहे हैं ? मैं भी आपके साथ चलूँगा।"

ढेर-सारी बातें पूछ डालीं जिज्ञासु बालक ने। मुनि ने बिना झुँझलाये सब प्रश्नों का जवाब दिया—

"वत्स ! घर-बार, सगे-सम्बन्धी सबको छोड़कर जो अपने प्रेम का प्रसार प्राणिमात्र के लिए करते हैं और मरने-जीने से बचने का उपाय ढूँढ़ते हैं, वे श्रमण या साधु होते हैं। श्रमणजन किसी एक जगह नहीं रहते। कहीं भी बस्ती से बाहर ठहर जाते हैं। मैं तुम्हारे नगर के बाहर अपने गुरु महावीर स्वामी तथा अन्य श्रमणों के साथ ठहरा हुआ हूँ। अब नगर में भिक्षा-भोजन लेने जा रहा हूँ। जहाँ से भी निर्दोष भिक्षा मिलेगी, लेकर फिर गुरु के पास चला जाऊँगा......।"

मुनि चलने को हुए। बच्चा भी उनके संग-संग चलने लगा। मुनि गौतम स्वामी ने पूछा—

"वत्स ! तुमने अपना नाम तो बताया ही नहीं। क्या नाम है तुम्हारा ?"

"अतिमुक्त ! मेरे पिता यहाँ के राजा हैं।" बालक *अतिमुक्त* ने आगे कहा—

"श्रमण महाराज ! आज आप मेरे घर चलिए। *मेरी माँ बहुत* अच्छी है। आज आप मेरी माँ से ही भिक्षा लीजिए।"

"अच्छा, आज तुम्हारे ही घर से सही...।"

बच्चे के साथ मुनि को और मुनि के साथ बच्चे को आते देख महारानी श्रीदेवी हर्षित होकर उठीं और श्रद्धापूर्वक मुनि को आहार वहराया। मुनि ने चलना चाहा। बालक ने फिर पूछा—

"अब आप कहाँ जायेंगे ?"

"गुरु के पास।"

"मैं भी आपके साथ चलूँगा। आपके गुरु को देखूँगा। उनसे बातें करूँगा।"

"चल सकते हो, पर पहले अपनी माता से पूछो।"

"माँ ! मैं जाऊँ ?"

"जाओ, बेटा !"

अतिमुक्तकुमार गौतम स्वामी की उँगली पकड़े हुए चला और वीर प्रभु के समवसरण में पहुँचा। श्रमण भगवान महावीर स्वामी उपदेश दे रहे थे और श्रोता मुग्ध होकर सुन रहे थे। बालक की समझ में सभी बातें नहीं आ रही थीं, पर उसे सुनना बहुत अच्छा लग रहा था। समझने की कोशिश कर रहा था। सुनते-सुनते उसने सुना—

"एक बालक अपने रोगी पिता के लिए दवा लेने बाजार गया। रास्ते में मदारी का तमाशा हो रहा था। बालक तमाशा देखने लगा और भूल गया कि मैं क्या लेने आया था। धीरे-धीरे शाम होने लगी और हो ही गई। मदारी ने झोली समेटी तो बच्चे को भान हुआ। पर तब तक दुकान बन्द हो चुकी थी।

"श्रोताओ ! सोचो, तुम इस संसार में क्या लेने आये हो। अपने आस-पास जो कुछ देख रहे हो—धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, गाना-बजाना—यह सब मदारी का तमाशा है। इसलिए जो कुछ लेने आये हो,

ले लो। बाजार बन्द होते देर नहीं लगती। मौत आते ही बाजार बन्द हो जायगा। जो कार्य 'फिर' पर टाला जाता है, उसका कोई भरोसा नहीं, क्योंकि 'फिर' अपने हाथ में नहीं—कराल काल के हाथ में है।"

अतिमुक्त प्रतिबोधित हो गया। कोई इतना ही समझ ले। इतना क्या कम है? संस्कार का प्रभाव दीखता ही है। अन्तर्यामी प्रभु जानते थे कि बालक संस्कारी है। बालक ने प्रभु से कहा—

"प्रभो! मुझे भी अपनी शरण में ले लो। मैं दीक्षा लूँगा प्रभो!"

भगवान ने आशीर्वाद के रूप में हाथ ऊँचा उठाया और कहा—

"जाओ, अपनी माता से अनुमति ले लो।"

अतिमुक्तकुमार घर आया। माता-पिता ने सुना तो सोचा—'बालक ही तो है। बालक ऐसे ही होते हैं, जो मन में आता है, कह देते हैं। अभी संयम का नाम ही सुना है। सोचता होगा, संयम भी कोई खेल है।' यह सोच बालक की बात टाल दी गई। लेकिन बालक बालक तो था, पर साधारण बालक नहीं था। अतः आग्रह-पूर्वक पुनः कहा—

"माँ! मुझे संयम की अनुमति दो। मैं प्रभु से दीक्षा लूँगा।"

माता-पिता दोनों को लगा कि मामला गंभीर है, अतः बालक को अनेक उपायों से समझाया और संयम की कठिनता का रूप दिखाकर संयम लेने से रोकना चाहा, पर दृढ़निश्चयी को कौन रोक पाया है? प्रतिभावान अतिमुक्त माता-पिता की हर बात को काटता गया और *अन्ततः माता-पिता को अनुमति देनी ही पड़ी, पर एक शर्त के साथ।* शर्त थी—

"वत्स! हमारे बड़े-बड़े अरमान थे। सोचा था, तेरा ब्याह रचायेंगे और तुझे अपनी आँखों से राजसिंहासन पर बैठा देखेंगे। लेकिन

कहना लगा—'अरे भाई तेरे साथ...'। नगर के लोग मुझे 'आप', अन्नदाता आदि कहते हैं और इसके सम्बोधन में कितनी सरलता है ! कितना अपनापन है ! राजा ने भीलकुमार से कहा—

"भैया ! मैं यहाँ का राजा हूँ। अगर मैं नगर में होता तो तुझे कुछ अवश्य देता। यहाँ तो मेरे पास तुझे देने के लिए कुछ भी नहीं है।"

भीलकुमार हँसा और हँसकर बोला—

"भले आदमी ! तो क्या मैंने ये रोटी और पानी तुझे बेचा है ? तू मुझे किस बात का देना चाहता है ? जब मैंने कुछ बेचा ही नहीं तो तू मुझे कुछ देगा क्यों ?"

राजा का रोम-रोम पुलकित हो गया, इस सात्त्विकता पर। प्रसंग बदल कर कहा—

"तुम कभी मेरे नगर में आना और मेरे मेहमान बनना। तुमसे मिलकर मुझे बहुत खुशी होगी।"

"कभी नगर आया तो तुझसे भी मिल लूँगा।" भीलपुत्र बोला —"पर तेरा नाम-धाम क्या है ? क्या तू मुझे पहचान लेगा ?"

राजा ने बताया—

"बस, लोग मुझे राजा के नाम से जानते हैं। राजा कहकर पूछ लेना।"

"और तेरा घर कैसे मिलेगा रे ?" भीलपुत्र ने पूछा।

"पूछ लेना कि राजा का महल कौन-सा है।" राजा ने बताया।

भीलपुत्र कुछ उलझन में पड़ गया। बोला—

"ये महल-वहल क्या होता है ? सीधे-सीधे मुझे अपना घर बता। मैं तो तेरे घर ही आ जाऊँगा। महल मैं किससे पूछता फिरूँगा ?"

राजा को भी हंसी आ गई, इस सरलता पर। कितना भोला है, यह प्राणी। राजा ने उसके मन की बात कही—

"अच्छा, तो तुम राजा का घर ही पूछ लेना। मुझे सब जानते

हैं। तुझे मेरा घर आसानी से मिल जायगा। और अब मुझे नगर के सही रास्ते पर डाल दो।"

भीलकुमार ने राजा को नगर के रास्ते पर डाल दिया। रास्ते में राजा को उसके अंगरक्षक भी मिल गए और वह सही-सलामत अपने 'घर' पहुँच गया।

× × ×

घूमते-घूमते एक दिन भील-तरुण राजा के नगर पहुँच ही गया। ऐसे भव्य भवन, साफ-सुथरी सड़कें और वीथियां उसने पहले कभी नहीं देखे थे। यहाँ के आदमी भी भिन्न थे—गोरे-चिट्टे और रंग-विरंगे कपड़ों से ढके। भील के बाल और शरीर लगभग एक ही रंग के थे। नीचे एक अधोवस्त्र था, जो बहुत मैला था। कन्धे पर एक झोली थी, उसमें जरूरत की चीजें थीं; जैसे आग जलाने के लिए चकमक पत्थर, खाने को कुछ चबेना और पानी की छोटी-सी दीवड़। यद्यपि यहाँ नगर में सभी चीजें आसानी से मिल जातीं, पर जरूरत की सब चीजें साथ लेकर घर से निकलना तो इन भीलों का स्वभाव था। भीलकुमार ने जब राजा को भोजन-पानी दिया था, तब भी उसकी चिरसंगिनी यह झोली साथ थी। चारों ओर देखते हुए भीलपुत्र ने एक से पूछा—

"भाई ! यहाँ राजा कहाँ रहता है ?"

"अरे मूर्ख ! सम्हलकर बोल। तुझे बोलने की भी तमीज नहीं ? कोई राजपुरुष सुन लेगा तो कैदखाने में डाल देगा।" बताने वाले ने भीलकुमार को झिड़क दिया।

सहमा-सा भीलपुत्र आगे बढ़ गया। फिर किसी दूसरे से पूछा—

"भैया ! राजा का घर कौन-सा है ?"

यह बताने वाला भला आदमी था। भीलपुत्र को समझाकर कहा—

"राजाजी महल में रहते हैं। तू महल को घर कहता है ? जा सीधा चला जा। एक बहुत बड़ा महल मिलेगा। बहुत-से प्रहरी वहाँ होंगे। वहीं राजा साहब रहते हैं।"

भीलपुत्र ने सोचा—'महल ? हाँ, याद आया। उसने भी तो अपने घर को महल ही कहा था।'

भील राजमहल के सामने खड़ा था और आँखें फाड़-फाड़कर उस महल को देख रहा था, साथ ही यह भी सोच रहा था, कौन-से दर-वाजे से जाऊँ। यहाँ तो चारों ओर द्वार ही द्वार हैं।"

सोचते-सोचते भीलकुमार दनदनाता हुआ एक द्वार में घुस गया। द्वारपाल ने पकड़कर पीछे किया और बोला—

"कौन है तू, जो इस तरह घुसा चला जाता है ? चल पीछे हट !"

संयोग से राजा ने अपने जीवनदाता भील-तरुण को ऊपर गवाक्ष से देख लिया और शीघ्र ही नीचे उतरकर आया। राजा बड़े स्नेह और आदर से भीलपुत्र को अन्दर ले गया। देखने वाले राजपुरुष चकित थे—राजा को क्या हो गया, जो इस जंगली को इस तरह मान दे रहे हैं।

मखमली गद्दों पर बैठते हुए भीलकुमार बोला—

"आह ! तुम्हारा महल तो सचमुच परियों का लोक है। मेरे दादा परीलोक की कहानी सुनाते हैं। वैसा ही तुम्हारा महल है।"

राजा को भीलकुमार के भोलेपन पर फिर हँसी आ गई और उससे कहा—

"चलो, तुम्हें अपना महल दिखाऊँ। यह तो कुछ भी नहीं। तुमने अभी देखा ही क्या है।"

भीलपुत्र ने राजा का महल देखा तो सपने में खो गया। सचमुच उसे सब इन्द्रलोक-सा लगा। जब उसने राजा के साथ भोजन किया तो उसके स्वाद की कल्पना भी नहीं कर सका। क्या भोजन था। भीलपुत्र को लगा कि इस दिव्य भोजन से मेरे मुँह की दुर्गन्ध भी निकल गई। कुछ दिन तक वह राजा के पास ही रहा और स्वर्गिक सुख का भोग करता रहा।

कुछ दिन आनन्द से बीत गए। अब उसे अपने वन्य जीवन की

की वस्तु है। जो जानता नहीं, उसे जनाया नहीं जा सकता और जो जानता है, वह बस जानता ही है, किसी को बता नहीं सकता। यह अनुभूति—आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव 'गूँगे का गुड़' है। गूँगा गुड़ का स्वाद जानता है, पर यह नहीं कह सकता कि गुड़ कैसा है। आत्मानन्द का अनुभव करने वालों की दशा इस भीलपुत्र जैसी ही है। एक शब्द में यही कहा जा सकता है—'कहि न जाय, का कहिये' अर्थात् कहा ही नहीं जाता तो फिर क्या कहा जाए।

[औपपातिक सूत्र]

जैन कथामाला

1. ६ महासतियों का जीवन १)५०
2. ७ महासतियों का जीवन ,,
3. ७ महासतियों का जीवन ,,
4. १० तीर्थकरों का जीवन ,,
5. १२ तीर्थकरों का जीवन ,,
6. २ तीर्थकरों का जीवन ,,
   [भगवान पार्श्व एवं महावीर]
7. मगधेश श्रेणिक ,,
8. मगधेश श्रेणिक ,,
9. महामन्त्री अभयकुमार ,,
10. भगवान महावीर के
    दस श्रमणोपासक ,,
11. प्रसिद्ध श्रमणोपासक ,,
12. वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार २)५०
13. वीर युग के वीर साधक १)५०
14. ऐतिहासिक कहानियाँ ,,
15. ऐतिहासिक कहानियाँ ,,
17. ऐतिहासिक कहानियाँ ,,
    (वीर निर्वाण सं० ५० से
    वीर निर्वाण सं० १७००
    तक के जैन इतिहास की
    प्रमुख १०० कहानियाँ)
18. चक्रवर्तीयों की कथाएं ,,
    (भरत एवं सगरचक्री)
19. मघवान सनत्कुमार, कुंथुनाथ
    एवं अरनाथ चक्री १)५०
20. शांतिनाथ चक्रवर्ती २)
21. सुभूम, महापदम, हरिषेण,
    एवं जयचक्री १)५०
22. ब्रह्मदत्त चक्री तथा
    अजात शत्रु कूणिक १)५०
23. प्रथम, द्वितीय वासुदेव
    बलदेव की कथाएँ ,,
24. ३, ४ वासुदेव-बलदेव
    की कथाएँ ,,
25. ५, ६, ७ वासुदेव-बलदेव
    की कथाएँ ,,

२६ से ३० ८वें वासुदेव-बलदेव
की कथा ८)
[सम्पूर्ण जैन राम-कथा]

३१ से ३३ ९वें वासुदेव-बलदेव
की कथा ५)
[समग्र श्रीकृष्ण कथा]

३४ से ३९ जैन आगम, टीका,
भाष्य आदि की कथाएँ
[प्रेस में

४० से सम्पूर्ण जैन मह
पांडव-कथाएँ